समराङ्गण-सूत्रधार-भाग-तृतीय

प्रासाद-निवेश

A new light on history of Temple art & architecture —Brahmana, Bauddha & Jaina

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल
एम०ए०., पी-एच०डी०., डी०लिट०.,
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ,
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, पंजाब विश्वविद्यालय
संस्कृत-विभाग, चण्डीगढ़

प्रकाशन-व्यवस्थापक
वास्तु वाङ्मय प्रकाशन-शाला
शुक्लकुटी, १० फैजबाद रोड,
लखनऊ ।

मुद्रक
प्रिंटिंग सेन्टर सेक्टर २१, चण्डीगढ़ ।

Royal Edition (for libraries etc) .. Rs 36

Student Edition (excluding अनुवाद) . Rs 18

समर्पण

प्रासाद-निवेश की
मौलिमालायमान कृति
भुवनेश्वर लिंगराज की स्मृति में—

शुक्लोपाह्व
द्विजेंद्र नाथ

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगत पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

लेखक की कृतियां —

भगवान् रुद्राधिदेव महादेव एव भगवती दुर्गा की कृपा से मैंने संस्कृत वाङ्मय के इस अनधीत अनुसंघत्त शास्त्र के अवगाहन से भारतीय वास्तु-शास्त्र के सामान्य शीर्षक दश ग्रन्थ अनुसन्धान-आयोजन-प्रकाशन को समाप्त कर दिया ।

शुभ भूयात् सनातनम्
विदुषा वशवद

निवेदन

हिन्दी मे वास्तु-शास्त्र पर प्रथम कृतियो का श्रीगणेश मैंने १९५४ ई॰ मे अपने प्रथम प्रकाशन—भारतीय-वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुरनिवेश के द्वारा किया था।

उत्तर प्रदेश-राज्य की ओर से हिन्दी मे ऐतद्विषयक अनुसन्धानात्मक एव गवेषणात्मक दश ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन मे निम्नलिखित चार ग्रन्थो—

१. भारतीय वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एव पुर-निवेश
२. भारतीत वास्तु-शास्त्र—प्रतिमा-विज्ञान
३. भारतीय वास्तु-शास्त्र—प्रतिमा-लक्षण
४. भारतीय वास्तु-शास्त्र—चित्र-लक्षणम् (Hindu Canons of Painting)—पर अनुदान प्राप्त हुआ था। अतएव हिन्दी साहित्य मे वास्तु-शिल्प के ग्रन्थो के प्रणयन का मुझे प्रथम सौभाग्य एवं श्रेय प्राप्त हो सका। उत्तर-प्रदेश-राज्य की हिन्दी-समिति ने इनमे से प्रथम दो कृतियो पर पारितोषिक भी प्रदान किया। अतएव इस दिशा मे अग्रसर होने के लिये लेखक ने केन्द्रीय सरकार व शिक्षा-सचिवालय से भी इस प्रकाशन मे साहाय्यार्थ प्रार्थना की। १९५६ में शेष छहो ग्रन्थो के लिये केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से भी अनुदान स्वीकृत हो गया। पुन नयी उद्भावनाओ एव सततताध्ययनानुसन्धान-गवेषण-मनन-चिन्तनोपरान्त, इन छहो ग्रन्थो को निम्न अध्ययनो में विभाजित किया :—

भवन निवेश (Civil Architecture)

प्रथम-भाग	अध्ययन एवं अनुवाद
द्वितीय-भाग	मूल एव वास्तु-पदावली

प्रासाद-निवेश (Temple Architecture)

प्रथम-भाग	अध्ययन एव अनुवाद
द्वितीय-भाग	मूल एव वास्तु-शिल्प-पदावली

टि॰ मूल से तात्पर्य मूल-आधार, मूल-परिष्कार एव मूल-सिद्धान्तो पर

आधारित भारतीय प्रासाद-स्थापत्य पर नवीन प्रकाश—*a new light on Temple Art & Architecture* है।

टि० २ प्रासाद पद का देव-प्रासाद एवं राज-प्रासाद इन दोनों के अर्थ में हम लोग गतार्थ करते आ रहे थे परन्तु समराङ्गण-सूत्रधार के अध्ययन एवं अनुसंधान से प्रासाद निवेश में हम *Palace-architecture* को *Temple architecture* में गतार्थ नहीं कर सके—दे० अध्ययन।

चित्र यन्त्र एवं नाट्यवाद्यादि-शिल्प (Painting, Yantras & other Arts)

भाग प्रथम	अध्ययन एवं अनुवाद
भाग द्वितीय	मूल एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली

भगवती सर्वमंगला की कृपा से यह भारतीय-वास्तु-शास्त्र-सामान्य-दीपक- दश ग्रन्थ अनुसन्धान-प्रकाशन-आयोजन आज समाप्त हो गया और अब दूसरे आयोजन (शिल्प शास्त्र—History of Silpa-Sastra on the lines of History of Dharma-Sastra) का भी श्रीगणेश होने जा रहा है पंजाब विश्वविद्यालय ने इस प्रोजेक्ट को फर्स्ट प्रारेटी देकर यू०जी०सी० से इस पोर्थ प्लान पीरियड के लिये ग्रांट भी स्वीकृत करा दी। अतः वर्तमान उप-कुलपति-महाभाग लाला सूरजभान जी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने संस्कृत वाङ्मय के इस अनुसन्धान विषय पर बड़ी दिलचस्पी ली।

इस निर्देश में जगद्गुरु-स्वामी शंकराचार्य-काम-कोटि-पीठम्-काञ्ची-पुरम् को नहीं भुलाया जा सकता जिन्होंने अपनी विलासगपाल्म-सदस में मुझे दो बार शिल्प व्याख्यान के लिये निमन्त्रित किया और इसी महाप्रदेश (इलिया-थागुड़ि एवं काञ्चीपुरम) में यह नया अनुसन्धान ठाना।

अस्तु अन्त में वास्तविक निवेदन यह है कि महाराजाधिराज-धाराधिप-भोजदेव विरचित यह समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र-ग्रन्थ ११वीं शताब्दी की प्रधिकृत कृति है। इसमें वास्तु-शास्त्रीय सभी प्रमुख विषयों का प्रतिपादन है। यह बड़ा वैज्ञानिक भी है। दुर्भाग्यवश यत्र-तत्र ग्रन्थ भ्रष्ट भी अधिक है। अध्यायों की योजना भी गड़बड़ है। हमारे देश में एक समय था, जब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी कुशल स्थपति होते थे तथा स्थापत्य-कौशल

विशेषकर मन्दिर-निर्माण एक यज्ञ-कर्म के समान पुनीत एवं प्रशस्त माना जाता था। पता नहीं कालान्तर में यह स्थापत्य-कौशल निम्न श्रेणियों (शूद्रादि जातियों) में क्यों चला गया ? शास्त्र की परम्परा एक प्रकार से उत्तर भारत में विलुप्त हो गई। दक्षिण में कौशल तो शेष रह गया परन्तु शास्त्र ज्ञान वहां भी एक प्रकार से परम्परा-मात्र रह गया। न तो कोई वास्तु कोष, न कहीं वास्तु-सम्बन्धी टीका-ग्रन्थ। ऐसी अवस्था में वास्तु-पदावली का अर्थ एवं उसकी वैज्ञानिक व्याख्या बड़े ही असमंजस एवं एक प्रकार की निरीहता का विषय रहा। तथापि अप्रज्ञेय दुरालोक, गूढार्थ, बहुविस्तर इस वास्तु शास्त्र सागर का मैं यथाकथञ्चित् अपने प्रज्ञापोत के द्वारा ही सतरण कर सका।

गर्व तो नहीं परन्तु हर्ष तो अवश्य है कि मेरी इन कृतियों के द्वारा यह अवश्य सिद्ध हो सकेगा कि संस्कृत के ये पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक ग्रन्थ कोरी कल्पनाओं एवं पौराणिक अतिरञ्जनाओं के आगार नहीं हैं, जैसा कि तथाकथित पुराविद् हमारे भारतीय विद्वान् भी मानते आये हैं। वैसे तो हमने इस शास्त्र के अध्ययन एवं अनुसन्धान में कठिनता के साथ सफलता भी पाई परन्तु यथा-निर्दिष्ट किसी भी प्राचीन सहायता के अभाव में इस बृहदाकार समराङ्गण के अनुवाद में वास्तव में बड़ी कठिनता का अनुभव करना पड़ा है।

अन्त में यह भी पाठक ध्यान देवें कि आधुनिक विद्वानों ने जितनी कलमें चलाई, उन्होंने प्रासाद-स्थापत्य Temple Art-cum-architecture के मूलाधारों एवं मूल-सिद्धान्तों के क्रोड में इस वास्तु का मूल्यांकन नहीं कर सके। अतः यह प्रथम प्रयास है। आशा है विद्वज्जन, पाठकजन, अनुरागीजन यह अध्ययन पढ़कर कुछ न कुछ अवश्य इस प्रयत्न का मूल्यांकन करेंगे।

छपाई के सम्बन्ध में प्रत्येक ग्रन्थ में संकेत किया ही है। अतः इस उक्ति के अतिरिक्त और क्या लिखें :—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः ।

टि० छापेखाने में जल्दबाजी से जो कहीं २ गड़बड़ियां हैं उनको अनुक्रमणी में ठीक कर दिया गया है।

मूल का संस्करण —पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थों में एक नवीन व्याख्या से

वास्तु शिल्प चित्र इन तीनों पदों का अर्थ अवाम्य हो गया होगा। वास्तु का सीमित अर्थ भवन निवेश है शिल्प का सीमित अर्थ कला से है (जैसे मृण्मयी, काष्ठमयी, पाषाणी, धातूया आदि)। चित्र का भी सीमित अर्थ चित्र-कला से है। अतएव प्रासाद निवेश में ये तीनों अंग आवश्यक हैं—प्रासाद-कलेवर, प्रासाद–प्रतिमायें प्रासाद चित्रण। अतएव प्रासाद निवेश भारतीय स्थापत्य का मौलिमानायमान तथा चर्मोत्कर्षावमान यहां पर सम्पन्न हुआ। अतः सम राङ्गण सूत्रधार के मूल परिष्कार में हम ने इन अध्यायों को पहले भवन निवेश से पुन राज निवेश एवं राजसी कलाओं—यन्त्र चित्रादि शिल्प-कलाओं—और अन्त में यथानिर्दिष्ट प्रासाद निवेश के इस वास्तु सागर के पारावार पर अपने प्रज्ञापोत से ही उतर सकें। अतएव यह अन्तिम संस्करण है। अध्यायों की तालिका के परिमार्जन पूर्व एक तथ्य और भी उपस्थाप्य है कि यह समराङ्गण-सूत्रधार वास्तव में जितने भी वास्तु ग्रन्थ हैं, शिल्प ग्रन्थ हैं चित्र-ग्रन्थ हैं, उनमें यही एक ऐसा विशाल आगार एवं अधिकृत ग्रन्थ है। अतएव यह उत्तरापथीय वास्तु शिल्प का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, दाक्षिणात्य —(Southern Dravida), पौवात्य (बंगाल विहार, आसाम) तथा पाश्चात्य (काश्मीर, नेपाल, तिब्बत आदि २) का भी प्रतिनिधित्व करता है। अतएव इस खण्ड में पाचों प्रासाद शैलियों—नागर, द्राविड, भूमिज, वावाट, लाट की भरमार प्रासाद-जातियों, प्रासाद-वर्गों, प्रासाद-शैलियों के अनुसार ये सब विवरण वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किये गये हैं। अतएव इस महादृष्टि से इस खण्ड को भी हमने नया रूप प्रदान किया है और उसी अनुरूप से यह अध्याय तालिका परिमार्जित की गयी है —

मूल अध्याय			परिमार्जित अध्याय
४६	रुचकादि प्रासाद लक्षण		६३
५२	प्रासाद-जाति लक्षण		६४
५४	प्रासाद द्वार-मानादि लक्षण		६५
५३	जघन्य वास्तु-द्वार लक्षण	.	६६
५०	प्रासाद-शुभाशुभ लक्षण	...	६७

टि० ५१वां राज निवेश से सम्बन्धित हैं अतः वह यहाँ से निकाल दिया गया है।

प्रथम-खण्ड

अध्ययन

विषयानुक्रमणी



पृ० संख्या



द्वितीय-खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल—छाद्य-प्रासाद

द्वितीय पटल -शिखरोत्तम-प्रासाद

तृतीय पटल—भौमिक प्रासाद एव विमान

चतुर्थ पटल—लाट-प्रासाद

पचम पटल—नागर-प्रासाद

N B Price as marked Rs. 36 is Cancelled & raised to Rs 40 on acct of High cost of Illustrations

मूल-आधार

अ, वैदिक

ब पौराणिक

स. लोक-धार्मिक

द. राजाश्रयित*



---

*टि० इस स्तम्भ मे प्रथम तीन का ही प्रतिपादन उचित है। चतुर्थ (द. राजाश्रयित)—की समीक्षा मूल-सिद्धान्तानुरूप सम्पन्न होगी।

विषय प्रवेश —प्रासाद-निवेश—भारतीय स्थापत्य शास्त्र एव कला—इन दोनों का अध्ययन व्यापक एव अति गम्भीर तथा विशाल विषय है। भारतीय—वास्तु-शास्त्र पर दश-ग्रन्थ-अनुसन्धान-आयोजन-प्रकाशन का जो सकल्प किया था, वह अब समाप्त होने जा रहा है। प्रासाद-वास्तु (Temple-architecture) का यह अश हिन्दू-प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि-शीर्षक से सम्बन्ध है।

प्रासाद-निवेश के लिये हमे अपने अतीत की ओर जाना होगा। प्रासाद के मूलाधारो मे वैदिक वाड्मय, पुराण, लोक-धर्म एव राजाश्रय—इन चारो की ओर मुडना होगा। अत इस मूल-अध्ययन को हम ने निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है :—

(१) मूल परिष्कार (३) शास्त्र एवं

(२) मूलाधार (४) कला

सर्व-प्रथम हम यहा मूलाधारो को ले रहे हैं, और इन मूलाधारो से तात्पर्य यथोक्त हिन्दू-प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि—वैदिकी, पौराणिकी, लोक-धार्मिकी तथा राजाश्रया से है। मूल परिष्कार—स० सू० के प्रासाद-खण्ड-अनुवाद मे सम्बन्धित है।

उपोद्घात—हिन्दू प्रासाद भारतीय वास्तु-शास्त्र एव भारतीय वास्तु-कला का मुकुटमणि ही नही सर्वस्व है। भारतीय स्थापत्य की मूर्तिमती विभूति हिन्दू-प्रासाद है। यहा का स्थापत्य यज्ञ-वेदी से प्रारम्भ होता है और मन्दिर की शिखर-शिखा पर समाप्त होता है। 'प्रासाद' शब्द मे, जैसा हम आगे देखेंगे, प्रकर्षेण सादनम् (चयनम्) की ही तो परम्परा है, जो सर्वप्रथम वैदिक चिति के कलेवर-निर्माण मे प्रयुक्त हुई और वही कालान्तर मे हिन्दू मन्दिरो के निर्माण की पृष्ठ भूमि बनी।

मानव-सभ्यता के विकास की आध्यात्मिक, आधिदैविक एव बौद्धिक, मानसिक तथा काल्पनिक आदि विभिन्न सास्कृतिक प्रगतियो मे वास्तु-कलात्मक कृतिया एक प्रकार स सर्वातिशायिनी स्मृतियाँ हैं। ये कृतिया इष्टका-पाषाण-आदि चिरस्थायी द्रव्यो से आबद्ध होकर युग-युग तक इस सास्कृतिक विकास का परम निदर्शन ही नही प्रस्तुत करती हैं, वरन् प्राचीन सास्कृतिक वैभव का प्रत्यक्ष इतिहास उपस्थित करती हैं। प्रत्येक देश एव जाति की वास्तु-कृतियों मे तत्तद्देशीय एव तत्तज्जातीय विशेषताओ की छाप रहती है। यूनान,

रोम आदि देशों की वास्तु-कला की विशिष्टताओं से हम परिचित ही हैं (देखिये—भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम, वा० वि० एवं पुर निवेश—पृष्ठ १६)। भारतीय वास्तु-कला की सर्व-प्रमुख विशेषता उसकी आध्यात्म-निष्ठा है। यहां की वास्तु-कला, जो विशेषकर मन्दिर-निर्माण में पनपी, वृद्धिगत हुई और मंदिर के उत्तुंग शिखर के समान ऊंची उठी, उसका आधार-भूत अध्यवसाय प्रयोजन भारतीय जन-समाज की धार्मिक चेतना एवं विश्वास को मूर्त स्वरूप प्रदान करके उनके प्रतीकत्व का कल्पन ही नहीं है, वरन् इस देश के दर्शन एवं पुराण में प्रतिष्ठापित तत्वों के रहस्यों का विजृम्भण भी। यहां के मन्दिरों के निर्माण में जन-समाज की धार्मिक उपचेतना की महती निष्ठा में देव-मिलन की भावना ही सर्वप्रधान है। मन्दिर का पीठ उसका कलेवर एवं उसका आकार एवं विस्तार तथा उपसंहार—सभी इस भावना के प्रतीक हैं। प्रासाद-वास्तु के विकास में हम देखेंगे कि जिस पूजा-भावना से हमारे पूर्वजों ने पाषाण-पट्टिकाओं (Dolmens and Menhirs) से तथा आरण्यक वनस्पतियों की वन्दनवार एवं मण्डपों से अलंकृत पूजा-गृहों की निर्मिति की, वही भावना सर्वदा जागरूक रही अथवा वृद्धिगत होती रही।

मानव-देव-मिलन की कथा एकाङ्गी नहीं है। मानव देव में मिलन के लिए ऊपर उठता है, तो उठते हुए मानव को देव ने सदैव चार पग आगे आकर छाती से लगाया है। प्रासाद-वास्तु की रूप-रेखा में दोनों तत्व चित्रित हैं। प्रासाद के उत्तुंग शिखर में देवत्व की खोज मानव के प्रयास का प्रतीक और जहां पर यह प्रासाद शिखर बिन्दु में अवसान प्राप्त करता है, वहीं मानव-देव मिलन है अथवा मानवता का देवतत्व में विश्राम है या मानवता एवं देवत्व की एकता स्थापित होती है। इसी प्रकार वह सम्यक् प्रासाद रचनाओं में जिस प्रकार मानव देवत्व की ओर बढ़ता हुआ चित्रित किया जाता है, उसी प्रकार देवता मानव की ओर उतरता हुआ (विशेषकर जैन-मंदिरों में देखो तेजपाल-मंदिर—आबू पर्वत) भी प्रदर्शित है।

हिन्दू स्थापत्य के सर्वस्व हिन्दू प्रासाद (Hindu Temple) के इस सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण के अतिरिक्त एक धार्मिक-व्यावहारिक दृष्टिकोण भी है जो जन-धर्म की आस्था का परिचायक है और जिसकी परम्परा पुराणों की भूमि पर पल्लवित हुई है। मन्दिर-निर्माण, वापी, कूप एवं तडागादि निर्माण के समान पूर्त-धर्म की सस्था है। आगे इस विषय पर विशेष समीक्षा पठनीय

होगी। व्यावहारिक रूप से परोपकार भी धर्मार्थ समझा गया। प्राय सभी धर्माचार्यों ने परोपकारार्थ-निर्मित प्रपा (प्याऊ) एव तडागादि की महिमा गाई है। सूत्र-ग्रन्थो म तो इस सस्था का बडा ही गुण-गान है। हिंदू-धर्मशास्त्रो मे वर्णित प्रतिष्ठा और उत्सर्ग का माहात्म्य इस पुरातन सस्था का पक्का प्रमाण प्रस्तुत करता है। अत आध्यात्मिक, धार्मिक एव व्यावहारिक सभी दृष्टियो से हमे इस प्राचीन सस्था का मूल्याङ्कन करना होगा।

प्रस्तुत प्रासाद-वास्तु को पूर्ण रूप से समझने के लिये हमे सर्वप्रथम उसकी पृष्ठ-भूमि के उन प्राचीन गर्तों एव आवर्तों का अन्वेषण करना है जिनके सुदृढ एव सनातन, दिव्य एव ओजस्वी, कान्त एव शान्त, स्कन्धो पर हिन्दू प्रासाद की बृहती शिलाग्रा का न्यास हुआ है। हिन्दू प्रासाद, हिन्दू सस्कृति, धर्म एव दर्शन, प्रार्थना, मत्र एव तन्त्र, यज्ञ एव चिन्तन, पुराण एव काव्य, आगम एव निगम—इन सबका पुञ्जीभूत मूर्त्त रूप है। भारतीय प्रासाद–रचना लौकिक कला पर आधारित नही है। सत्य तो यह है कि प्रासाद स्वय लौकिक नही वह अलौकिक एव आध्यात्मिक तत्व की मूर्तिमती व्याख्या है। यह मूर्तिमान् आकार ऐसे ही नही उदय हो गया। शताब्दियो की सास्कृतिक प्रगतियो के सघर्ष से जो अन्त मे उपसहार प्राप्त हुआ वही हिन्दू प्रासाद है। उसकी पृष्ठ-भूमि के प्रविवेचन मे भारतीय सस्कृति के विकास की नाना परम्पराओं—श्रौत, स्मार्त, पौराणिक, आगमिक तथा दार्शनिक आदि की देन का मूल्याकन करना होगा। श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित भारतीय धर्म की आत्मा मे उद्भावित एवं भारतीय दर्शन की महाज्योति से उद्दीपित हिन्दू प्रासाद की व्याख्या मे जिन नाना पृष्ठ-भूमियो के दर्शन करना है, उनमे वैदिकी पौराणिकी राजाश्रया एव लोक-धर्मिणी विशेष उल्लेख्य हैं। इस विषय प्रवश म पाठको का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना है कि भारत का स्थापत्य अदेव-हेतुक बहुत कम रहा है। भारतीय स्थापत्य का मुकुट-मणि शिवा उसकी सर्वातिशयिनी कला अथवा उसका मूर्तिमान स्वरूप (शरीर एव प्राण) हिन्दू प्रासाद है। हिन्दू सस्कृति की लोक-व्यापिनी यह प्रोज्ज्वल पताका है। हिन्दू–प्रासाद मानव कौशल की पराकाष्ठा ही नही देवत्व की प्रतिष्ठा का भी परम सोपान है। सागर एव बिन्दु, जड एव चेतन, आत्मा एव परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या मे हिन्दू शास्त्र-कारो ने कलम तोड रक्खी है। हिन्दू-स्थपतियों ने भी अपनी छैनी और बसूलों आदि सूत्राष्टक (दे० भा० वा० शा० प्र० प्र० पृष्ठ २ तथा ८०) से वही कमाल दिखाया है। क्रान्त-दर्शी

मनीषी कवियो (ऋषियो) ने अपनी वाणी से जिस अध्यात्म-तत्व के निष्यन्द मे छन्द-बन्ध एव वर्ण-विन्यास के द्वारा जिस लोकोत्तर भावाभिव्यञ्जन का सूत्रपात किया है, वही परिणाम प्रख्यात स्थपतियो की इन महाविभूतियो मे भी पाया गया है। इष्टका एव पाषाण की इस रचना म धर्म एव दर्शन ने प्राण-सञ्चार करवाया है। अत इस मौलिक आधार के मूल्याङ्कन बिना, हिन्दू प्रासाद की वास्तु-शास्त्रीय अथवा वास्तु कलात्मक व्याख्या अथवा विवेचना अधूरी है।

भारतीय जीवन सदैव अध्यात्म से अनुप्राणित रहा। जीवन की सफलता मे लौकिक अभ्युदय की अपेक्षा पारलौकिक नि श्रेयस ही सर्वप्रधान लक्ष्य रहा। पारलौकिक नि श्रेयस की प्राप्ति मे नाना मार्गों का निर्देश है। प्रार्थना, मन्त्रोच्चारण यज्ञ चिन्तन—ध्यान, योग वैराग्य, जप-तप पूजा पाठ तीर्थ-यात्रा देव दर्शन, देवालय निर्माण —एक शब्द म इष्ट और पूर्त (इष्टापूर्त) की विभिन्न सस्थाओ एव परम्पराओ ने सनातन से इस साधना-पथ पर पाथेय का काम किया है।

मानव-सभ्यता की कहानी मे मानव की धर्म-पिपासा एव आध्यत्म-जिज्ञासा ने उसे पशुता मे अपने को आत्मसात् करने से बचाया है। प्रत्येक मानव का बौद्धिक स्तर एक सा नही। उसका मानसिक क्षितिज भी एक सा विस्तृत नही। उसकी रागात्मिका प्रवृति भी एक सी नही। उसका आध्यात्मिक उन्मेष भी सर्व-समान नही। अत मानवो की विभिन्न कोटियो के अनुरूप, साध्य पारलौकिक नि श्रेयस की प्राप्ति मे नाना साधना-पथो का निर्माण हुआ। मार्ग अनेक अवश्य हैं, लक्ष्य तो एक ही है। यह लक्ष्य है देवत्व-प्राप्ति। ससार, मानवता एव देवत्व के पार्थक्य का, कोलाहल है। इस कोलाहल का शब्द उस दिव्य स्वर्ग मे नही सुनाई देता जहाँ मानव-देव मिलन है। ससार-यात्रा एव मानव का ऐहिक जीवन दोनो ही उस परम लक्ष्य की प्राप्ति को प्रयोग शाला है। देशकाल की सीमाओ ने यद्यपि इस लक्ष्य की ओर जाने के लिए अगणित मार्गों का निर्माण किया है परन्तु विकासवाद की दृष्टि से देव—पूजा, देव प्रतिष्ठा एव देवालय-निर्माण, भारत की सर्वाधिक प्रशस्त, व्यापक एव सर्व-लोकोपकारी सस्था साबित हुई है। तपोधन तपस्वियो एव ज्ञान-धन ज्ञानियो से लेकर साधारण से साधारण विद्या बुद्धि वाले प्राकृत जनो—सभी का यह मनोरम एव सरल साधना पथ है।

वैदिक

'प्रासाद' या 'विमान' देव-गृह ही नही पूजा-गृह भी है। इस देश मे उन उपासना-गृहो या स्थलो को, जिनको हम मन्दिरो या प्रासादो या विमानो के नाम से पुकारते हैं, उनके पूर्व भी तो किसी न किसी रूप म पूजा-गृहो की परम्परा अनिवार्य थी ही। आवास, भोजन एव आच्छादन- इन तीन अनिवार्य मानवीय आवश्यकताओ के साथ अर्ध-सभ्य की अवस्था मे भी उपासना भी मानव की अनिवार्य आवश्यकता रही। सभ्य मानव की तो वह अभिन्न सहचरी रही- इसमे किसी का वैमत्य नही।

यद्यपि मानव-सभ्यता के विकास मे देश-विशेष मे उस के भौतिक अथवा आध्यात्मिक इन दोनो पक्षो में अन्यतर के विशेष विकास का सकीर्तन किया जाता है, परन्तु सत्य तो यह है कि जाति-विशेष की सभ्यता एव सस्कृति का उत्थान भौतिक पक्ष की ओर विशेष भुका अथवा आध्यात्मिक, देवोपासना का उसम अनिवार्य ससर्ग रहा। अत इसी सनातन सत्य के अनुरूप इस देश मे प्रासाद-देवालय अथवा प्रासाद-पूजागृहो के पूर्व भी कोई न कोई अवश्य सस्था या परम्परा थी। उपासना के नाना रूपो मे प्रार्थना, यज्ञ, उपचार, आदि ही विशेष प्रसिद्ध हैं। हम जानते ही हैं कि प्राचीन भारतीय आर्यों की उपासना का आदिम स्वरूप *प्रार्थना-प्रधान या स्तुति-प्रधान था, पुन आगे चल कर आहुति-प्रधान।* ऋग्वेद एव यजुर्वेद इन्ही दोनो परम्पराओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऋग्वद मे अनेक देवो के प्रति जो स्तुतिया-ऋचायें हैं, उनमे 'वास्तोष्पति' की जो प्रकल्पना है वह *प्रासाद के वास्तु-मण्डल अथवा वास्तु-क्षेत्रीय वास्तु-पुरुष-निवेश-*परम्परा का प्राचीन बीज प्रस्तुत करता है। भारत के अष्टाङ्ग स्थापत्य मे वास्तु-पुरुष-प्रकल्पन स्थपति की प्रथम योग्यता एव साधना है—(भा० वा० शा० *ग्रन्थ प्रथम पृष्ठ ७१)—यह हम कह ही आये हैं। इस प्रकार हिन्दू-*प्रासाद के नाना निवेशो—वास्तु-निवेश (Site-Plan), पीठ-प्रकल्पन (जगती-रचना), गर्भ-गृह-विन्यास (अर्थात विमानोत्थान) मडप निवेश, शाला विन्यास *आदि की विकसित परम्पराओ मे वैदिक पृष्ठ-भूमि ने कौन-कौन से इस दिशा* मे घटक प्रदान किये—यह विचारणीय है।

इस अध्याय मे हम केवल वास्तु-निवेश तक ही विवेचन सीमित रक्खेंगे। आगे के एतद्विषयक अध्यायो मे अन्य प्रश्नो पर प्रकाश डालेंगे।

भारतीय स्थापत्य यज्ञीय कर्म के समान एक धार्मिक संस्कार (religious rite) है। अतएव वास्तु-कार्य का कर्ता स्थपति 'पुरोहित' एवं कारक—गृहपति 'यजमान' के रूप मे प्रकल्पित हैं। अथच जिस प्रकार यज्ञ-कर्म-काण्ड मे पुरोहितो मे एक प्रधान आचार्य (ब्रह्मा) होता है, जो उस यज्ञ का *अधिष्ठाता अध्यक्ष कहलाता है,* उसी प्रकार वास्तु-कर्म मे स्थपति एवं उसके अन्य साथी (सूत्र-ग्राही तक्षक एवं वर्धकि) भी स्थापक-आचार्य की अध्यक्षता मे कार्य करते हैं। प्रासाद-निर्माण मे एक बार नही अनेक बार स्थापक-आचार्य के निर्देश से यज्ञीय-कर्मों द्वारा वास्तु-कर्म को सम्पन्न किया जाता है।

वास्तु-शास्त्र अथवा स्थापत्य-शास्त्र वैदिक वाङ्मय की तन्त्र-शाखा से सम्बन्धित है। तन्त्र अथर्ववेद का अङ्ग है। ऊपर हम निर्देश कर आये हैं कि वास्तु-कर्म यज्ञ-कर्म है, अत: इस दृष्टि से वास्तु शास्त्र वेदाङ्ग-षट्क मे दो अङ्गो की पृष्ठ-भूमि पर पनपा है। ये दो अङ्ग हैं—ज्योतिष तथा कल्प। भारतीय स्थापत्य मे ज्योतिष एवं कल्प दोनो का ही प्रचुर समावेश है (भा० वा० शा० भाग १ पृष्ठ ५६)।

वास्तु-पुरुष मण्डल हिन्दू प्रासाद का नक्शा (मानचित्र) है। नारदीय वास्तु-विधान (अ० ८ तथा १०) के अनुसार यह मण्डल यन्त्र है। यन्त्र एक प्रकार की रैखिक योजना है, जिसमें परम-तत्व का कोई भी रूप (aspect) किसी भी पावन स्थान पर पूजार्थ बाधा (यन्त्र शब्द मे 'यम' धातु बन्धनार्थक है) जा सकता है। इस प्रकार प्रासाद के वास्तु-मंडल मे तदायत्ता भूमि सीमित होने पर भी इस यन्त्र के द्वारा असीम की व्यापकता का प्रतीक बन जाती है और अनाम एवं अरूप जिस सत्ता को इस मण्डल मे बाधने का प्रयास है उसकी सज्ञा वास्तु-पुरुष है। इस प्रकार इस मण्डल के चार उपकरणो—मण्डलाकार वास्तु-पद, उसका अधिष्ठाता वास्तु-पुरुष एवं मण्डल सज्ञाओ मे से वास्तु-शास्त्रीय वास्तु-पुरुष-कल्पना मे वैदिक वास्तोष्पति की पृष्ठ-भूमि तो नियत ही है, मण्डलाधार 'धरा' की दृढता (stability) के सम्बन्ध मे नाना वैदिक प्रवचन पोषक प्रमाण हैं—ऋ० दशम १२१-५ तथा १७३-४, श० ब्रा० षष्ठ १-१-१५, वाजसनेय-सहिता एकादश ६६—इसी प्रकार तै० स० एवं गृह्य-सूत्रों मे भी निर्देश हैं। महाराज पृथु के पौराणिक गोदोहन अथवा भूसमीकरण वृत्तान्त का हम निर्देश कर चुके हैं तथा उसके मर्म पर भी इङ्गित कर चुके हैं—भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम पृ० ५८-६१; तदनुरूप यह पृथु जो वास्तव मे धर्मराज (यमराज) का मूल-पुरुष prototype) है, वह श० ब्रा० (चतुर्विश ३-२-४) के एतद्विषयक प्रवचन से परिपुष्ट होता है।

वास्तु चक्र-निर्माण के पूर्व भू-परीक्षा आवश्यक है। इस परीक्षा मे भू-कर्षण, अकुरारोपण एव समीकरण की प्रक्रियायें भी वैदिक व्यवस्थायें हैं क्योकि किसी भी यज्ञ-सम्पादन मे आवश्यक यज्ञ-स्थल-चयन एव उस पर वेदी-निर्माण—ये प्रक्रियायें एक अनिवार्य अङ्ग हैं। प्रासाद-निर्माण मे आवश्यक वैदिक कर्म-काण्ड प्राथमिक सस्कार ही नही, वे उस के पूरक एव अभिन्न अङ्ग हैं। कण्व-सहिता (विंशति ३-४), मैत्रायणी-सहिता (तृतीय २-४५), श० ब्रा० (सप्तम २ २ १-१४) आदि मे निदिष्ट 'अग्नि-चयन' के पूर्व भू-कर्षण एव अकुरार्पण की प्रक्रिया प्राथमिक मानी गई है। यही प्रक्रिया आगे चलकर प्रासाद-निर्माण का भी अभिन्न प्राथमिक अङ्ग है। सोम-यज्ञ के 'प्रायणीय' के उपरान्त वेदि-भूमि का द्वादश वृषभो के द्वारा कर्षण एवं अकुरारोपण का उल्लेख है। अग्नि-चयन मे महावेदी के निर्माण एव यज्ञीय भूमि पर अकुरारोपण से लगाकर 'मङ्गलाकुर' की प्रक्रिया पूजान्वास्तु की सदैव अभिन्न अङ्ग रही (कामिकागम ३१ १८)। अथर्ववेद (पचम २५ २) का भी तो यही उद्घोष है।

प्रासाद के गर्भ-गृह की वैदिकी पृष्ठ-भूमि मे वैदिक-वेदी का अंकुरारोपण मूलाधार है। प्रासाद का कलेवर, जो इस गर्भ से ही विकसित होता है, भूमि के तत्व को आत्म-सात् ही नही करता है, वरन् उसे दूसरे ही तत्व मे परिवर्तित कर देता है। भू (पृथ्वी) समीकृत हो कर भूमि कहलाती है। प्रासाद का आकार भू-शक्ति से उत्पन्न होता है, परन्तु उस का रूप भूमि पर निवेश्य पद का अनुगामी है। अथच भू-कर्षण भू-समीकरण एव अकुरार्पण के साथ साथ 'भूत-बलि' की पुरातन प्रथा भी स्मरणीय है। निवेश्य प्रासाद-पद (the site of the temple) के निवासी भूत-गणो (spirits) की वहा से उनकी विदाई ही अभीष्ट नही है, वरन् चयित पद पर प्रथम बलि भी है, जिस से निराकार परमेश्वर की साकार प्रतिकृति प्रासाद उस स्थल पर पनप सके। श० ब्रा० (प्रथम २ ३ ६-७) इसी तथ्य की ओर सकेत करता है। इसी पुरातन परम्परा के अनुरूप मयमत (चतुर्थ १-८) का निम्न प्रवचन उल्लेख्य है :

> आकारवर्णशब्दादिगुणोपेत भुवः स्थलम्।
> सगृह्य स्थपति प्राज्ञो दत्वा देवबलि पुन.॥
> स्वस्तिवाचकघोषेण जयशब्दादिमङ्गलैः।
> अपक्रामन्तु भूतानि देवताश्च सराक्षसाः॥
> वासान्तरं व्रजन्त्वस्मात् कुर्यां भूपरिग्रहम्।

इति मन्त्र समुच्चार्य विहिते भूपरिग्रहे ॥
कृष्ट्वा गोमयमिश्राणि सर्वबीजानि वापयेत ।
दृष्ट्वा तानि विरूढानि फलपक्वगतानि च ॥
सवृषाश्च सवत्साश्च ततो गास्तत्र वासयेत ।
यतो गोभि परिश्रान्तमुपघ्राणैश्च पूजितम् ॥
सहृष्टवृषनादैश्च निर्धौत-कलुषीकृतम् ।
वत्स-वक्त्रच्युतै. फेनै सस्कृत प्रस्नवैरपि ॥
स्नात गोमूत्रसेकैश्च गोपुरीषै सलेपनम् ।
च्युतरोमन्थनोद्गारैर्गोस्पदै कृतकौतुकम् ॥
गोगन्धेन समाविष्ट पुण्यतोयै शुभ पुन ।

मनुस्मृति का भी समर्थन प्राप्त है —

समार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवा च परिवासेन भूमि शुद्ध्यति पञ्चभि ॥

मनु० ५— १२४

भू कर्षण की पुरातन प्रथा पर मानसार का मत भी अवलोक्य है—ग्र० ५

अस्तु, भूकर्षणादि प्रक्रियाओ से समीकृत भूमि अब वास्तु-पुरुष-मण्डल (जो प्रासाद का आध्यात्मिक, आधिदैविक एव भौतिक नक्शा है) के निर्माण के लिये उपयुक्त है। 'पृथ्वी' चौडी अर्थात् असमीकृता— ऊबड-खाबड अब भूमि दर्पणाभ-समीकृता बन गई। पृथ्वी पर धर्मराज्य की प्रथम व्यवस्था के लिये भू-समीकरण (पृथु का गोदोहन-वृत्तान्त) प्रथम अङ्ग है। महात्मा बुद्ध के जन्म के अवसर उनके चरणो के स्पर्श के लिये पृथिवी अपने आप बराबर और कोमल बन गई जिसमे भूतल पर धर्म-चक्र का सार्वभौमिक प्रचार सुकर एव सफल हो सके।

यज्ञ-वेदी के समान यह प्रासाद भी वेदिका है। श० ब्रा० (प्रथम २ ५. ७) वेदी की व्याख्या करता हुआ उसे देव-भूमि बनाता है। देवो ने सम्पूर्ण पृथ्वी को ही यहा (यज्ञ- वेदी के चारो कोणो) पर ला कर रख दिया है। इस दृष्टि से 'वेदी' पृथ्वी का 'प्रतीक' (symbol) है। देव-भूमि 'वेदी' एव देवालय 'प्रासाद' का यह तादात्म्य कितना रोचक है। प्रासाद का प्रादुर्भाव यज्ञ-वेदी की पुरातन परम्परा का ही प्रोल्लास है —यह शनः शनै. हमारी समझ मे आ रहा है।

प्रासाद के वास्तु पुरुष मण्डल के ग्रौपोद्घातिक प्राचीन मर्मोद्घाटन मे एक तथ्य और यहा निर्देश्य है, वह यह कि सूर्योदय के साथ इसकी आनुषंगिकता सङ्केतित है। सुश्री कुमारी डा० क्रैमरिश (see H. T p 17) का एतद्-विषयक निम्न उद्धरण बडा ही तथ्योद्घाटक है —

'The surface of the earth in traditional Indian Cosmology, is regarded as demarcated by sunrise and sunset, by the points where the sun apparently emerges above and sinks below the horizon; by the East and West and also by the North and South points It is therefore represented by the ideogram or mandala of a square [F N 44—The square dose not refer to the outline of the earth It connects the 4 points established by the primary pairs of opposites, the apparent sunrise and sunset points, East and West, and South and North The earth is therefore called 'Caturbhrsti' four-cornered (Rv X 58 3) snd is symbolically shown as Prthvi mandala, whereas considerd in itself, the shape of the earth is circular (Rv X 89 4, S B VII I I 37)] The identification of the square with the Vedi is in shape only and not in size and belongs to the symbolism of the Hindu Temple The Vedi represents and is levelled earth, a place of sacrifice or worship No part of the ground should rise above it for it was from there tha the gods ascended to heaven' (S B III I I I 2) The site, the earth should be even and firm for it is the starting place of the ascent (S B VIII 5 2 16) The link between the earth and the end of the ascent stretches upward into space, the intermediate region (antriksa) From it also it leads downward and rests on earth In it the temple has its elevation The Vastu purusamandala, the temple-diagram and metephysical plan is laid out on the firm and level ground, it is the intellectual foundation of the building, a forecast of its ascent and its projection on earth'

अस्तु, ऋग्वेद का 'चतुर्भृष्टि' मे पृथ्वी-मण्डल अर्थात् वास्तु-मण्डल की वैदिक पृष्ठ-भूमि का आभास दिया जा चुका है। अब यह देखना है कि वास्तु-शास्त्र मे प्रतिपादित नाना आकृतियो के वास्तु-मण्डलो मे वैदिक उत्पत्ति प्रभृति

कहा तक सगत होती है? वास्तु-पदो के अनेक आकारो मे चतुरश्राकार एव गोलाकर सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। ये दोनो आकार भारतवर्ष की वास्तु-कला मे वैदिक वेदिका एव अग्नि से आये हैं। वेदिका एव अग्नि दोनो ही एक ही सज्ञा मे हैं। वास्तु-मण्डल क चतुरश्राकार एव वर्तुलाकार के वैदिक जन्म के सम्बन्ध मे हम इसी अध्याय मे आगे दूसरे स्तम्भ मे विशेष विचार करेंगे। यहा पर प्रथम वास्तु-पुरुष के वैदिक जन्म पर थोडा सा और विवेचन वाछित है।

वास्तु-पुरुष 'वास्तोष्पति' नामक प्राचीन वैदिक देवता का ही अवान्तर रूप है। रुद्र प्रजापति न उषा के साथ शादी की और उस से चार पुत्र उत्पन्न हुये। चौथे का नाम वास्तोष्पति या गृहपति-अग्नि नाम पड़ा। सायणाचार्य (दे० भाष्य ऋग्वे० दशम० ६१ ७) ने इसकी—यज्ञ-वास्तु-स्वामी—यह सज्ञा दी है। जो यज्ञीय-कर्म का रक्षक था एव यज्ञ-वेदी का अधिनायक था वही आगे चल कर सभी भवनो के पदो का स्वामी बना।

वास्तु-पुरुष मे असुरत्व का आविर्भाव भी वैदिक है। वैसे तो अपनी मौलिक (original) प्रकृति (aspect) मे 'गृह रक्षक' के रूप मे प्रकल्पित है (दे० निरुक्त दशम० १६); परन्तु वह और सभी रूप ले लेता है (दे० ऋग्वे० सप्तम २२ १, पा० गृ० सू० तृतीय ४ ७)। वह रुद्र है अतएव वह पृथिवी पर फैलता है जहा पर उसका आधिराज्य अग्नि के आधिराज्य से एकान्वित हो जाता है क्योकि रुद्र एव अग्नि तत्वतः एक ही हैं—दे० भा० वा० शा० ग्रन्थ चतुर्थ पृष्ठ ६६)।

अग्नि का कार्य-क्षेत्र (sphere) भू पर है (निरु० सप्तम ५) ऋग्वेद (दे० प्रथम ६० ४; पचम ६ १-२; ७-६, ८-१ तथा षष्ठ १६ २४, ४८ ८-३) मे वह 'गृहपति' 'वासक' आदि सज्ञाओ से सकीर्तित है। ऐतरेय ब्राह्मण (प्रथम ५ २८) उसे देवों मे 'वसु' के नाम से पुकारता है। अष्ट वसुओ के कार्य से हम परिचित ही है। शतपथ ब्राह्मण (दे० षष्ठ १-२-६) इन वसुओ को मानवो को बसाने का कार्य सौंपता है। अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम आदि देवता वसुओ के नाम से उद्घोषित किये गये हैं।

ऋग्वेद (षष्ठ ४६. ६) मे प्रजापति, सोम अग्नि, धाता गृह-पति के रूप मे सम्बोधित हैं, ये सभी वसु-देव 'वास्तु-मण्डल' के अभिन्न एव प्रधान पद-देव प्रकल्पित किये गये हैं।

वास्तोष्पति (अग्नि—प्रजापति) भवन का स्वामी है और पृथिवी गृह-स्वामिनी। वास्तु-स्वामी वास्तोष्पति एवं वास्त्वाधार धरा का यह दाम्पत्य सम्बन्ध वास्तु-कर्म के अभिन्न प्राथमिक अंग—भू-कर्षण समीकरण आदि प्रक्रियाओं से उपयुक्त भू पर अंकुरार्पण एवं गर्भाधान का मर्मोद्घाटन करता है। अतएव वास्तु-पूजा एवं वसु-पूजा दोनों ही प्रासाद-निर्माण के वास्तु कर्म के अभिन्न अंग हैं। सुश्री क्रेमरिश ने (दे० *H T p. 76*) में वास्तु-पुरुष की इस दृष्टि से जो व्याख्या की है, वह कितनी ओजस्वी एवं सच्ची है :—

"...... ......Vastu now is its name Its image is that of the Purusa, the place of reference in which man beholds the identity of macrocosm and microcosm On its appeased being and form spread out of the ground he sets up the temple, the monument of his own transformation Its superstructure points to the origin of the primeval descent, it is undone by the ascent step by step, shape by shape, along the body of the temple This body once more, in concrete from (murti) made by art, is that of the Purusa, arisen"

अष्टाङ्ग स्थापत्य का प्रथम अङ्ग ('तेष्वङ्ग प्रथम प्रोक्त वास्तु-पुंसो विकल्पना' मृ० मू० ४८-३) एवं हिन्दू-प्रासाद-निर्माण की पूरी इन्जीनियरिंग (i e. Temple-plan) वास्तु पुरुष-मण्डल के तीन मौलिक स्वरूप हैं—परा, सूक्ष्म, तथा स्थूल। मण्डल (चतुरश्राकार पद) उसका स्थूल रूप है, जो वास्तव मे वास्तु-पुरुष एवं उसके विभिन्न अंगो पर अधिष्ठातृ देव-गण (सूक्ष्म रूप) तथा उनसे प्रतिफलित निराकार ब्रह्म के परम तत्त्व ('परा' रूप—Metaphysical aspect) का ही प्रतीक है। वास्तु-पुरुष-मण्डल के तीन अङ्गो—वास्तु (परा), पुरुष, (सूक्ष्म) एवं मण्डल (स्थूल) की दृष्टि से यह व्याख्या है। अत मण्डल (स्थूल रूप) की पृष्ठ-भूमि पर प्रविवेचन प्रथम प्राप्त था। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक वाङ्मय मे संहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् के अनन्तर ही वेदाङ्ग—सूत्र-ग्रन्थ (अर्थात कल्प एवं ज्योतिष) का परिगणन किया जाता है। वास्तु-पुरुष मे प्राचीनतम वैदिक देव 'वास्तोष्पति' का सर्वतो विलास होने के कारण हमने वास्तु-पुरुष-मण्डल के सूक्ष्म रूप पर प्रथम प्रवचन किया। जहा तक उनके नाना अङ्गो के अधिष्ठातृ-देवगण की प्रविवेचना है वह हम अपने भारतीय वास्तु-शास्त्र ग्रंथ प्रथम—वा० वि० एवं पु० नि० पृ० १२१-७ मे कर आये हैं। रहा

'परा' रूप अर्थात् वास्तु, उस पर भी हम कुछ निर्देश कर चुके है (वही)। यहा पर वास्तु-पुरुष-मण्डल के स्थूल रूप अर्थात् पद-चक्र की मीमासा विशेष अभीष्ट है।

इस स्थूल रूप की मीमासा मे 'परा रूप' 'वास्तु' पर भी थोडा सा उपोद्घात आवश्यक है। 'वास्तु' वस्तु का विकास है एव निविष्ट पद (planned site) की सज्ञा है। इस का मौलिक आकार चतुरश्र है। वास्तु सनियमित सत्ता के विस्तार का प्रतीक है और इसी हतु उसका 'पुरुष' के सादृश्य म प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। विराट्-पुरुष—पुरुष की मूर्ति और निविष्ट-पद दोनो एक हैं एव तदात्मक भी हैं।

'मण्डल' से किसी भी आयत (Polygon) का सकेत हो सकता है। वास्तु-पुरुष मण्डल का मौलिक आकार तो चतुरश्र है परन्तु इसे किसी भी समान क्षेत्र वाले आकार—त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण, वर्तुल आदि मे परिवर्तित किया जा सकता है।

हिन्दू स्थापत्य म वास्तु पुरुष-मण्डल का किसी भी भवन के पद-विन्यास (site-plan), स्थान-निवेश (ground plan) एव अन्य एतद्सम्बन्धी विभाजन यथा Vertical section के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा गीत एव रागो का। वास्तु शास्त्र म प्रतिपादित तलच्छन्द एव ऊर्ध्व-च्छन्द का वही मर्म है। इस दृष्टि से हिन्दुओ की वास्तु कला के सभी वर्गों के भवनो के विन्यास में वा० पु० म० एक प्रथम एव अभिन्न अग है। भवन के सभी विन्यास-पद, स्थान, उर्ध्व-च्छन्दादि (Vertical and horizontal sections) का वा० पु० म० ही नियामक है। हम अब यह देखना है कि इसकी पृष्ठ-भूमि मे वैदिक जन्म (Vedic origin) कहा तक सगत है।

यह पीछे निर्देश किया जा चुका है कि वा० पु० म० का मौलिक आकार 'चतुरश्र' है। यह आकार भारतीय स्थापत्य का मूलभूत आकार है। सूत्र-ग्रन्थो (दे० बौधा० शु० सू० प्रथम २२ २८) मे 'चतुरश्रीकरण' पर प्रवचन है। 'चतुरश्रीकरण' मे 'वर्तुल' निहित है और उसी 'वर्तुल' से ही चतुरश्र-करण' प्रतिफलित होता है। चतुराश्राकार नियामक है और उदीयमान जीवन का प्रतीक है और मृत्यु के बाद भी जीवन की पूर्णता।

'चतुरश्र' और 'वर्तुल' ये दोनों ही आकार वैदिक चिति—अग्नि (Fire-altar) से आये हैं और भारतीय स्थापत्य के मूलाधार आकार बन गये हैं।

प्राचीन वश-शाला की तीन वेदिकाओं [मध्य में पूर्व-पश्चिम रेखा (प्राचीन वंश) पर स्थित दो, और एक दक्षिणामुखी रेखा पर] से हम परिचित ही हैं। इनमे प्रागुक्त पूर्व-पश्चिम वाली वेदिकाओं में से पूर्व-कोणस्था-वेदिका चतुरश्रा होती है और पश्चिम-कोणस्था वेदिका वर्तुला। चतुरश्रा पर 'आहवनीय' अग्नि तथा वर्तुला पर 'गार्हपत्य' अग्नि प्रज्वलित होती है। तीसरी वेदी की अग्नि का नाम दक्षिणाग्नि है। इन तीनो के आधिराज्य क्रमश द्यौ, पृथिवी एव अन्तरिक्ष है (श० ब्रा० द्वादश ४ १ ३)। *यज्ञशाला (विशेष कर सोमादि-यज्ञों में) अन्य अनेक वेदि-*या विनिर्मित होती हैं, जिनकी प्राय सभी आकृतिया चतुरश्रा होती हैं—उत्तर-वेदी (जो सर्व-प्रधान वेदी है) एव आहवनीय अग्नि की वेदिका की तो आकृति चतुरश्रा है ही। *उ० वे० की 'नाभि' एव 'उखा' की भी वही आकृति होती है।*

अपच इन सभी नैत्यिक यज्ञों की वेदियों (आहवनीय, गार्हपत्य एव दक्षिणा) एवं नैमित्तिक (सोमादि) की वेदियों (महावेदी या सौमिकी तथा उस पर उत्तर-वेदी आदि) की निर्मिति, आकृति एव *प्रयोजन* सभी प्रासाद निर्माण के लिये मूलाधार प्रदान करते है। वैदिक परम्परा मे वेदी पृथिवी के पृथुल विस्तार का प्रतीक है, यज्ञीय कर्म-काण्ड की तो वह क्षेत्रमात्र है। इसकी आकृति बदलती रहती है। *सीमित क्षेत्र का यह उपलक्षण-मात्र है न की निश्चित आकृति। श० ब्रा०* (सप्तम ३-१-२७) का यह प्रवचन कि—वेदी पृथ्वी है और अन्तर्वेदी द्यौ —कितना सगत है।

हिन्दू प्रासाद की पृष्ठ-भूमि में यह वैदिकी चतुरश्रा वेदी ही पावन क्षेत्र प्रदान करती है। पृथिवी का वर्तुल रूप तिरोहित हो कर द्यौः की पूर्णता में परिणत हो जाता है। अतएव उसी पूर्णता के प्रतीकत्व मे उसे चतुरश्रा परिकल्पित किया जाता है। चतुरश्रा वेदी एव वर्तुला पृथिवी का अन्योन्य तादात्म्य इसी मर्म का प्रतिपादक है।

अपच यागोपलाक्षणिक एवं प्रासाद-वास्तुक चतुरश्राकार पुन. नाना आकारो मे परिवर्तित होता है। यह परिणिति एकमात्र वास्तु-शास्त्रीय परम्परा ही नही जिसमे एक से लगाकर ३२ तक (दे० मानसार) के वास्तु-पदो की नानाकृति-निर्मिति प्रतिपादित है। अपितु सूत्र-साहित्य (दे० बौधायन शुल्व-सूत्र आदि) में भी यह परम्परा पल्लवित हो चुकी थी।

अस्तु, अब इस सम्बन्ध मे अवशेष कथन 'प्रासाद-वास्तु—जन्म एव विकास' मूल-सिद्धान्तो के क्रोड मे किया जायेगा, परन्तु वैदिक वेदि-रचना के प्रतिपादक शुल्वसूत्रो (जो कल्प-सूत्रो के ही अवान्तर पुञ्ज हैं) मे वर्णित नाना

अग्नियों (ऐष्टिक यज्ञ-वेदिकाओं) पर कुछ विशेष सकेत यहा आवश्यक है। डा० आचार्य (दे० H A I A p 63) ठीक ही लिखते हैं —

' *The construction of these altars, which were required for the great soma-sacrifice, seems to have been based on scietific principles and was probably the precursor of the temple which later became the chief feature of Hindu Architecture.*"

इन अग्नि-वेदियो का नाना आकृतियो मे निर्माण होता था। तैत्तरीय-सहिता (दे० पचम ४-११) मे इनका पुरातनतम निर्देश है। बोधायन तथा आपस्तम्ब के सूत्रो मे इन वेदियो की आकृतियों एव उनके निर्माण मे प्रयुक्त इष्टकाओ (Bricks) के पूर्ण विवरण प्राप्त होते है। उदाहरणार्थ निम्न सज्ञायें उल्लेख्य है —

सज्ञायें	आकृतिया
१ चतुरश्र श्येनचिति	चौकोर
२ कण्व-चिति	,, कुछ फेर सहित
३ अलज चिति	,, ,,
४ प्राग्-चिति	(Equilateral triangle)
५ उभयत प्राग्-चिति	,,
६ रथ-चक्र चिति	

टि० —इसके दो भेद सकीर्तित हैं—एक ठोस तथा बिना अरो (spokes) के—रथ-चक्राकृति वाली तथा दूसरी षोडश अरो सहित रथ-चक्राकृति।

७ द्रोणचिति	घटाकार (चतुरश्र अथवा वर्तुल)
८ परिचय्य-चिति	

टि० —रेखिक-योजना मे यह वर्तुलाकार होती है और इष्टका-न्यास मे कुछ परिवर्तनो से यह 'रथचक्र-चिति' के समान ही निर्मेय है।

९ समूह्य-चिति	(वर्तुल)
१० कूर्म-चिति	यथानाम कच्छपाकार जो त्रिकोण अथवा वर्तुल दोनो मे निर्माप्य है।

इन वेदियो के निर्माण मे एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि इनका निर्माण चय-कला (masonry) की प्राचीन पद्धति का परिचायक है। इनमे प्रत्येक वेदी की रचना कम से कम ईंटो की पाच उठान या रद्दो (layers) मे सम्पन्न की जाती थी। किन्हीं किन्ही मे ये (layers) १० और १५ तक प्रतिपादित

हैं। जितने अधिक (layers) उठते थे, उतनी ही अधिक ऊचाई जाती थी। प्रत्येक उठान या रद्दा मे २०० ईंटो के न्यास की विधि बताई गई है जिससे पूरी वेदी मे १००० ईंटें लगें। पहले, तीसरे और पाचवें रद्दो के २०० भाग एकसम विभाजित होते थे, परन्तु दूसरे और चौथे रद्दो मे दूसरा ही विभाजन अपनाया जाता था जिससे एकाकार एव समानाकार की एक इष्टिका दूसरी इष्टिका पर न पडने पावे।

पीछे हम वैदिक वेदी के मूलभूत आकार-चतुरश्राकार पर इङ्गित कर चुके हैं, तदनुसार इन वेदियो मे इष्टिका-न्यास अथवा उनका चयन इस प्रकार किया जाता था कि चयित पद का क्षेत्र चतुरश्रो (Squares) मे ही परिणत किया जाता था। डा० आचार्य ने इसी परम्परा के उद्घाटन में निम्न अवतरण का उद्धरण किया है vide The Pandit – June 1876 no 1, Vols I & IV etc.

'The first alter covered an area of 7½ purusas, which means 7½ squares, each *side of which* was *equal to* a purusa, i e. the height of a man with uplifted arms On each subsequent occasion the area was increased by one square purusa Thus at the second layer of the alter one squrre purusa was to the 7½ constituting the first citi *altar*, and at the third layer two squrre purusas were added and so on But the shape of the whole and the relative proportion of each constituent part had to remain unchanged The area of every citi (altar), whatever its shape might be—falcon, wheel, tortoise, etc—had to be equal to 7½ square purusas.

Thus squares had to be found which would be equal to two or more given squares, or equal to the difference of two given squares, oblongs were turned into squares and squrres into oblongs Triangles were constructed equal to given squares or *oblongs and so on A circle had to be constructed, the area of* which might equal as closely as possible that of a given square

अस्तु, लगभग १२६ सज्जाओं के साथ (दे० श्येन-चिति) की स्थूल रेखा (outline) जो मेरे—हिन्दू प्रासाद मे द्रष्टव्य है।

वेदी-विन्यास मे जिन उपर्युक्त २०० इष्टिकाओ के चयन का सकेत है उन की पृथक् पृथक् सजावें होती थी। इष्टिका-कर्म (masonry) उस सुदूर अतीत मे कितनी विकसित थी—यह हम सहज ही समझ सकते हैं।

पौराणिक

हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता के विकास का आभास देने वाले जिस वाङ्मय का क्रमिक निर्माण सनातन से संकीर्तन किया जाता है, उस मे 'श्रुति' (वेद एवं वेदाङ्ग) के अनन्तर 'स्मृति' (मन्वादि-धर्म-शास्त्र का) क्रम आता है, पुन पुराणो का। परन्तु स्मार्त एवं पौराणिक संस्थाओं मे विशेष अन्तर नही है। सत्य तो यह है कि पुराणो ने श्रौताचार (जो एक प्रकार से विशिष्ट या शिष्ट जनो का आचार था) को ही भित्ति पर श्रौत-स्मार्त संस्थाओं का नवीन रूप (पौराणिक रूप) प्रदान किया।

पुराणो की महती देन 'सामान्याचार' है जिस में आर्य एवं अनार्य—द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) एवं शूद्र तथा पुरुष एवं स्त्री समान रूप से भाग ले सकते थे। इस सामान्यचार मे 'देव-भक्ति' एवं तदनुरूप 'देव-पूजा' की संस्था सर्व-प्रमुख संस्था थी। त्रिमूर्ति—ब्रह्मा विष्णु एवं महेश की कल्पना एवं तदाधार वैष्णव एवं शैव धर्मादि नाना उपासना-मार्ग एवं तदनुपाङ्गिक देव-विशेष की परम प्रभुता एवं तत्सम्बन्धी अवतारवाद एवं उनकी नाना लीलायें आदि की बडी बडी अनेक शृङ्खलायें निर्मित हुई।

पौराणिक धर्म कितना पुराना है, पुराणों की रचना कितनी पुरानी है पुराणों का प्रतिपाद्य विषय क्या है, पुराण एवं वेद मे कितनी घनिष्टता है, पुराणो की संख्या एवं पुराणो से सम्बन्धित अन्यान्य अनेक कौन कौन विषय हैं—इत्यादि प्रश्नो की समीक्षा का यहाँ पर अवसर नही है। यहा प्रकृत प्रासाद-वास्तु के विकास मे वैदिकी देन के उपरान्त पौराणिकी देन की समीक्षा का अवसर है। अत इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम हम उस आधारभौतिक दृष्टि-कोण से विवेचन करेंगे जिससे पुराणो मे प्रतिपादित पूर्त धर्म के प्रचार मे देवालय-निर्माण की परम्परा पल्लवित हुई।

इष्टापूर्त की संस्था पर हम बहुत बार निर्देश कर चुके हैं। यहा पर थोडा विस्तार से कथन आवश्यक है।

इष्टापूर्त वैसे तो एक शब्द है, परन्तु इसमे दो भाग हैं—इष्ट+पूर्त —प्रथम का अर्थ है यज्ञ-सम्पादन (इष्टि = यज्ञ) तथा पूर्त अर्थात् पूरा किया गया भरा गया (what is filled):—'Spiritual result or merit due to man's performances of sacrifices and charitable acts 'Kane, H.D. Vol. 2. pt. 2. p 843

'इष्टापूर्त' की संस्था अत्यन्त प्राचीन इतिहास रखती है। ऋग्वेदादि वैदिक साहित्य में भी इस शब्द का सकीर्तन हुआ है —

(i) सङ्गच्छस्व पितृभि: स यमेन इष्टापूर्तेन व्योमन।

ऋ० १०. १४. ८

(ii) इष्टापूर्तं ···नः पितृणामम् ददे हरसा दैव्येन।

अथर्व० २. १२. ४

(iii) यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्तं कृणुतादाविरस्मै।

यदिष्टं यत्परादानं यद्दत्तं या च दक्षिणा।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः सुवर्देवेषु नो दधत्।

तै० स० ५. ७. ७. १-३

(iv) उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते ससृजेथामयं च।

वाज० स० १५ ५४ तथा १८.६१

(v) इष्टं पूर्तं शश्वतीनां समानां शाश्वतेन हविषेष्ट्वानन्त लोक

परमावरोह। तै०ब्रा० २.५.५

(vi) इत्यददा इत्यजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत।
इष्टापूर्तं वै ब्राह्मणस्य। इष्टापूर्तेनैवैनं स समर्धयति॥

तै० ब्रा० ३.९.१४

इसी प्रकार कठ एवं मुण्डक आदि उपनिषदों में भी 'इष्टापूर्त' का निर्देश है —

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।

एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥

कठोप० १. १. ८

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वाविशन्ति॥

मुण्ड० १. २ १०

महाभारत की इष्टापूर्त पर निम्नलिखित भारती सुनिये :—

एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते।
अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टमित्यभिधीयते॥

अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते॥

स्मृतियो मे इष्ट एव पूत (इष्टापूर्त) दोनो की सामान्य सस्था पर पुष्ट प्रवचन प्राप्त होते है—

श्रद्धयेष्ट च पूर्त च नित्य कुर्यादतन्द्रित ।

श्रद्धाकृते ह्यक्षयेते भवत स्वगागतैधनै ॥
दानधर्म निषेवेत नित्यंष्टिकपौर्तिकम् ।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तित ॥

मनु० ४ २२६ २७

अस्तु, ऊपर एक सकेत किया जा चुका है कि पौराणिक धर्म की सर्वतोन्मुखी विशेपता जन धर्म (popular religion) है। इसम शूद्र भी भाग ल सक्ते थे। अत्रि का उद्घोप है —

इष्टापूर्तो द्विजतीना धर्म सामान्य इष्यते ।
अधिकारी भवेच्छूद्रो पूर्ते धर्मे न वैदिके ॥

इस अवतरण से यहा पर पूर्त धर्म की सामान्य सस्था पर प्रकाश पडता है—इष्ट-धर्म वैदिक है एव पूर्त-धर्म पौराणिक— यह भी परिपुष्ट होता है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि पौराणि पूर्त धर्म मे 'देवतायतनो' का निर्माण प्रमुख स्थान रखता था।

पूर्त धर्म की परम्परा अपेक्षाकृत अर्वाचीन नही समभनी चाहिये। पुराणो की परम्परा को अपेक्षाकृत नवीन समभना भ्रामक है। पुराण (पुराना इतिहास)भला अर्वाचीन अर्थात् नवीन या आधुनिक कैसे हो सकता है ? उसी प्रकार हमे पूर्त-धर्म को नवीन सस्था नही समभनी चाहिय। वैदिक वाड्मय से उद्धृत ऊपरी अवतरण इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अब प्रश्न यह है कि तथा-कथित पौराणिक पूर्त धर्म कहा तक जाता है ? कल्प सूत्रो के मर्मज्ञ विद्वानो से अविदित नही की उनम श्रौत सूत्रो क अतिरिक्त धर्म-सूत्रो एव गृह्य-सूत्रो का भी समावेश है। धर्म-सूत्रो एव गृह्यसूत्रो मे दानादि-महात्म्य के साथ-साथ प्रतिष्ठा (देवतायतन-निर्माण एव मूर्ति-प्रतिष्ठा–Fundation of Temples)एव उत्सर्ग(वापीकूपतडागारामादि का परोपकाराय-निर्माण— dedication of wells, tanks, parks etc for the benefit of the public) की परम्परा पर पूर्ण प्रवचन हैं।

जैमिनि-सूत्रो (१ ३ २)की व्याख्या करते हुये शवरस्वामी का भाष्य इस पुरातन परम्परा को वैदिकी सस्था के रूप मे परिकल्पित करता है जहा पर

प्रतिष्ठोत्सर्ग के स्मृति-नियमों में वैदिक पृष्ठ-भूमि प्रतिष्ठित है। शबर ने ऋग्वेद की धन्वन्निव प्रपा – १०.४ १ तथा भोजस्येद पुष्करिणीव' – १० १०७ १० आदि का उल्लेख किया है। विष्णु-धर्म सूत्र (अ० ९१ १-२) ने कूप एवं तडाग निर्माण की जो प्रशसा की है वह उसमें पाप प्रक्षालन एवं स्वर्गारोहण दोनों ही लभ्य हैं।

शा० गृ० सू० (५ २) में प्रतिष्ठोत्सर्ग की पद्धति पर सर्वप्राचीन प्रवचन है। आश्व० गृ० सू० (४ ९) तथा पा० गृ० सू० परिशिष्ट में भी एतत्सम्बन्धी विवरण भरे पड़े हैं। पा० गृ० परिशिष्ट का निम्न प्रवचन कितना प्रामाणिक है —

. .अथातो वापीकूपतडागारामदेवतायतनानां प्रतिष्ठापनं व्याख्यास्यामस्तत्रो-दगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे तिथिवारनक्षत्रकरणे च गुणान्विते तत्र वारुणं यवमयं चरुं श्रपयित्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति त्वं नो अग्ने इमं मे वरुण तत्त्वा यामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तममुरुं हि राजा वरुणस्योत्तम्भनमग्नेरनी-कमिति दशर्चं हुत्वा स्थालीपाकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहा शतक्रतवे स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहेति यथोक्तं स्विष्टकृत्प्राशनान्ते जलचराणि क्षिप्त्वा-लङ्कृत्य गां तारयित्वा पुरुषसूक्तं जपन्नाचार्याय वरं दत्वा कर्णवेष्टकौ वासांसि धेनु-दक्षिणा ततो ब्राह्मणभोजनम् । पार० गृ० परिशिष्ट'।

अस्तु सूत्र ग्रथों के इसी प्राचीन स्रोत से प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग की महानदी वह निकली जो पुराणों के सागर में मिली। पुराणों में इस पद्धति पर बृहद् विजृम्भण हुआ। अग्नि पुराण (अ० ६४), मत्स्य (अ० ५८) आदि में ये विवरण द्रष्टव्य है। तन्त्रों एवं आगमों की भी यही गाथा है। पचरात्र आदि तन्त्र ग्रन्थ एवं कामिकादि आगम-ग्रन्थ सभी में यह विकास पराकाष्ठा तक पहुच गया। कालान्तर पा कर अर्वाचीन समय में प्रतिष्ठा-सम्बन्धी अनेक प्रतिष्ठित स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमें अपरार्क, हेमाद्रि, दानक्रिया-कौमुदी, रघुनन्दन-का जलाशयोत्सर्ग तत्व नीलकण्ठ के प्रतिष्ठा-मयूख तथा उत्सर्ग-मयूख आदि विशेष उल्लख्य हैं।

वैसे तो प्रतिष्ठा से तात्पर्य धर्मार्थ-समर्पण (dedicating to the public use) है, परन्तु प्राचीन धर्म-शास्त्रों के अनुसार यह विधिपूर्वक होना चाहिये—प्रतिष्ठापनं सविधोत्सर्जनमित्यर्थे —दानक्रिया-कौमुदी।

प्रतिष्ठा-पद्धति के चार अंग क्रमशः हैं—सकल्प, होम, दान तथा दक्षिणा

एव भोजन। उत्सर्ग एव दान म थोडा सा अन्तर है। उत्सर्ग भी दान है परन्तु दान व्यक्तिगत है। अत: उसका भोग वर्जित है। उत्सर्ग तो सर्वभूतो के लिए होता है। अत: उत्सृष्टा(दाता) भी तो उन भूतो मे एक है अत: वह भी समान-रूप से उसके भोग का अधिकारी। देवतायतन, वापी, कूप, तडागादि को उत्सर्ग कर देने पर भी उत्सृष्टा (दाता) इन के भोग का अधिकारी है।

प्रतिष्ठोत्सर्ग की श्रौत-स्मार्त (पौराणिक भी) संस्था पर महाकवि बाणभट्ट का निम्न निर्देश कितना सुसगत है जहा पर स्मार्त-धर्म प्रतिष्ठोत्सर्ग पर अवलम्ब-मान दृष्टिगोचर होता है (देखिये कादम्बरी उज्जयिनी-वर्णन—'स्मृतिशास्त्रेणेव सभावसथकूपप्रपाराम सुरसदनसेतुयन्त्रप्रवर्तकेन'।

कालिका-पुराण मे तो पूर्त-धर्म (प्रतिष्ठा एव उत्सर्ग)को इष्ट-धर्म से भी ऊचा माना गया है—

> इष्टापूर्तौ स्मृतौ धर्मौ श्रुतौ तौ शिष्टसमतौ
> *प्रतिष्ठाप्य तयोः पूर्तमिष्ट यज्ञादिलक्षणम्*
> मुक्तिमुक्ति प्रद पूर्तमिष्ट भोगार्थसाधनम्।

अर्थात् इष्ट एव पूर्त दोनो ही शिष्टसम्मत धर्म हैं। पूर्त' से वापी, कूप, तडाग, देवलायतन आदि की प्रतिष्ठा से तात्पर्य है एव इष्ट से यज्ञ कर्म। इनमे इष्ट-धर्म एक मात्र भोगार्थ-साधन है परन्तु पूर्त भुक्ति एव मुक्ति दोनो का ही साधन है। अतः इसी महाभावना से पूर्त-धर्म के परिपाक मे देवायतन निर्माण एक बृहद् निवेश है जिस मे प्रासाद या विमान देव-भवन ही अभिप्रेत नही हैं वरन् उससे सम्बन्धित नाना अन्य निवेश भी सुतरा सनिविष्ट हुए—जैसे आराम (पुष्प एव फलवृक्षो का आरोपण), जलाशय (मन्दिर का अभिन्न अग)—वापीकूप-तडागादि।

सूत्र-कारो ने यद्यपि प्रतिष्ठा एव उत्सर्ग मे केवल कूपादि जलाशयो का ही प्रतिपादन किया है, परन्तु जलाशयोत्सर्ग मे पादपारोपण का पृथुल प्रविवेचन है। भारतवर्ष की प्राचीन सस्कृति मे वृक्षारोपण, वृक्ष-पूजा एव वृक्ष-माहात्म्य एक अभिन्न अग है। यागादि में वृक्षो के बहुत प्रयोग (यूप, समिधा, यज्ञ-पात्र—स्रुवा, जुहू) से हम परिचित ही हैं। वृक्षो की वन्दनवार प्रायः सभी सस्कारो एव समारोहो की एक प्राचीन परम्परा है। वृक्ष-पत्र, वृक्ष-पुष्प एव वृक्ष-फल के बिना क्या कोई कभी भी कर्म-काण्ड सम्पन्न हुआ है ? (दे० हेमाद्रिव्रतखण्ड—अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षचूतन्यग्रोधपल्लवा पचाङ्गा इति प्रोक्ता सर्वकर्मसुशोभनाः—

जिस स्थान पर कूपादि जलाशयों की प्रतिष्ठा होती एवं धर्मार्थ उनका उत्सर्ग होता वहाँ वृक्षारोपण (विशेष कर बड़े-बड़े वनस्पतियों - न्यग्रोध- पिप्पल आदि) अनिवार्य समझा जाता था। इस उष्ण-प्रधान देश में कोई भी जन-स्थान (public-place)बिना वृक्षों की छाया कैसे बन सकता था ? अथच वृक्ष-पूजा का भी देव-पूजा के समान ही माहात्म्य रहा। माहाभाष्यकार पतञ्जलि के उस सुदूर समय में भी 'आम्राश्च सिक्ता पितरश्च प्रीणिता' का विश्वास प्रतिष्ठित था। महाभारत में वृक्षारोपण बड़ा प्रशस्त माना गया है विशेषकर तडाग के तट पर:—

वृक्षद पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र च ।
तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्या श्रेयोऽर्थिना सदा॥
पुत्रवत्परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः ।
(अनु० प० ५८. ३०—३१)

विष्णु धर्म-सूत्र (९१ ४) का भी वही समर्थन है –

वृक्षारोपयितुर्वृक्षाः परलोके पुत्रा भवति।'

वृक्षारोपण का माहात्म्य पुराणों की पुण्य-भूमि पर और भी निखर उठा (दे० पद्मपुराण), जहां वृक्षारोपण, देवालय निर्माण-कार्य पूर्त-धर्म एवं यज्ञादि कर्म-काण्ड इष्ट धर्म के समान स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बताया गया है।

अस्तु वृक्षारोपण की इस पुरातन प्रथा पर यहां पर संकेत करने का अभिप्राय पाठकों का उस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करने का है जहां पर देवतायतन —मन्दिर निवेश की पद्धति में वृक्ष एक अभिन्न अंग थे। मत्स्यपुराण (दे०अ० २७० २८-२९)में स्पष्ट लिखा है कि मन्दिर के मण्डप की पूर्वदिशा में फल-वृक्ष, पश्चिम में कमलकार तथा उत्तर में पुष्प-वृक्षों के साथ-साथ सालादि तालादि वृक्ष भी आरोपित हों। प्राचीन धर्म-शास्त्रों में वृक्षों की रक्षा पर बड़े कठोर शासन का अनुशासन है (दे० विष्णु- धर्म-सूत्र ५ ५५ ५६)। अत स्पष्ट है किसी भी प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में वृक्षारोपण एवं वृक्षों की रक्षा अनिवार्य अंग हैं।

इस अत्यन्त संक्षिप्त समीक्षा से हम यही निष्कर्ष निकाल सके कि पूर्त-धर्म के प्रधान अङ्गों में केवल जलाशय (वापी, कूप, तडाग) एवं आराम की प्रतिष्ठा एवं उनके उत्सर्ग पर ही सूत्र-ग्रन्थों में सामग्री है। जहां तक मन्दिर-प्रतिष्ठा अथवा मन्दिर में प्रतिमा प्रतिष्ठा का प्रश्न है वह वैदिक व्यवस्था (सूत्र-ग्रन्थ जिसके अभिन्न अंग हैं) नहीं। वह तो स्मार्त एवं पौराणिक संस्था है; परन्तु देवालय-प्रतिष्ठा भी इसी कोटि की है—मत्स्यपुराण का निम्न प्रवचन बड़ा सहायक है—

एवमेव पुराणेषु तडागविधिरुच्यते
कूपवापीसु सर्वासु तथा पुष्करिणीषु च ।
एप एव विधिर्दृष्ट प्रतिष्ठासु तथैव च,
मन्त्रतन्तु विशेष स्यात प्रासादोद्यानभूमिषु ॥

म. पु. ५८. ५०-५२

अर्थात् जो विधि तडागादि जलाशयो की प्रतिष्ठा एव उत्सर्ग मे प्रचलित है, वही उद्यानादि पर एव प्रासाद अर्थात् देवालय पर भी घटित समझना चाहिये —विशेष यह कि मत्रो के प्रयोग म थोडी सी हेर फेर अवश्य रहे ।

पौराणिक प्रासाद प्रतिष्ठा(Foundation of temples)तथा देवना-प्रतिष्ठा(Consecration of an imag in the temple)पर विस्तृत विवरण प्राय सर्वत्र प्राप्त होते हैं। देवता-प्रतिष्ठा पर हम आगे विशेष-रूप से लिखेंगे । मठ-प्रतिष्ठा भी मन्दिर-प्रतिष्ठा के समान प्राचीन परम्परा है। सत्य तो यह है कि मठ एव मन्दिर एक दूसरे के अभिन्न अग हैं। आदि शकराचार्य के जगत् प्रसिद्ध चार मठ जगत्प्रसिद्ध चार मन्दिर भी हैं—बदरिकाश्रम म मठ भी है और मन्दिर भी। इसी प्रकार पुरी म जगन्नाथ जी के जगत्प्रसिद्ध मन्दिर एव मठ दोनो से हम परिचित ही हैं। द्वारकापुरी रामेश्वरम् आदि का भी यही इतिहास है। अस्तु, यहा पर इस दिशा मे विशेष भ्रमण न कर अब प्रासाद निर्माण के प्रयोजन पर थोडा सा और सकत आवश्यक है।

वाराही 'बृहत्सहिता' यद्यपि ज्योतिष का ग्रन्थ है परन्तु वास्तव मे उसे अर्थ-पुराण समझना चाहिय। बृहत्सहिता का प्रासाद-निर्माण-प्रयोजन पर निम्न प्रवचन पठनीय है—

कृत्वा प्रभूत सलिलमारामान्विनिवेश्य च ।
देवातयतन कुर्याद्यशोधर्माभिवृद्धये ।।
इष्टापूर्तेन लभ्यन्ते ये लोकास्तान् बुभूषता ।
देवानामालय कार्यो द्वयमप्यत्र दृश्यते ॥

अर्थात् जिस भूमि पर प्रभूत जलराशि क साधन सम्पन्न हैं और जहा पर पुष्पवृक्षा एव फलवृक्षो के सुन्दर-सुन्दर उद्यान भी सुलभ्य हैं एव सुनिविष्ट हैं वहा पर यश एव धर्म की वृद्धि करन वाले यजमान् (प्रासाद-प्रतिष्ठापक) को देवनायतन का निर्माण कराना चाहिये। इष्टापूर्त से जिन स्वर्गादि लोको की प्राप्ति के सोपान सिद्ध होते हैं उन स्वर्गादि-लोको का अभिलाषी यजमान

देवालय निर्माण करावे। क्योंकि देवालय निर्माण से इष्ट (यज्ञादिजन्य स्वर्ग प्राप्ति) एव पूर्त (धर्मार्थ-साधन) दोनो ही एकत्र प्राप्त होते हैं।

इस प्रवचन से प्रासादों के उदय के अन्तर्तम मे पौराणिक पूर्त-धर्म के मर्म को पाठक भली भांति हृदयङ्गम कर सके होंगे। 'स्वर्गकामो यजेत्' वैदिकी परम्परा के स्थान पर 'स्वर्गकामो मन्दिर कारयेत्' सर्वथा सिद्ध हो गया। प्रसाद-कारक (मन्दिर का निर्माण कराने वाला धर्मार्थी व्यक्ति) यजमान के नाम से ही पुकारा गया है। स्थपति एव स्थापक' के वास्तु-शास्त्रीय सम्बन्ध मे प्रासाद-कर्ता स्थपति प्रासाद-कारक यजमान का प्रतिनिधित्व करता है। अत ये सब फल, जो प्रासाद-निर्माण से प्राप्त होते हैं, वे उसे (यजमान को) मिल जाते हैं। वृहत्सहिता के लब्धप्रतिष्ठ टीकाकार उत्पल ने काश्यप के प्रामाण्य (authority) पर प्रासद-कारक यजमान् का स्वर्ग-निवास नित्य माना है और यह नित्य स्वर्ग, मन्दिर की दृढता से पुष्ट होता है—जो मन्दिर जितना ही पक्का एव चिरस्थायी है वह उतना ही अपने निर्माता यजमान के स्वर्ग का विधायक भी। 'महानिर्वाण-तन्त्र' त्रयोदश २४, २५ इसी प्राचीन मर्म के उद्घाटन म निर्देश करता है कि काष्ठादि से विनिर्मित छाद्य प्रासाद (thatched temples) की अपेक्षा इष्ट-काओ से विनिर्मित प्रासाद (brick temples) शतगुण पुण्य प्रदान करते हैं परन्तु पाषाण से बनवाये गये प्रासाद (stone temples) तो इष्टका-प्रासाद से सहस्रगुण फलदायक होते हैं।

प्रासाद-कार्य यज्ञ-कार्य के समान ही धार्मिक कार्य है—यह हम कई बार कह चुके हैं, सत्य यह है कि हिन्दू दृष्टि से कोई भी वास्तु-कार्य यज्ञ कार्य के समान पुनीत एव स्वर्ग-कारक है। प्राचीन काल मे लोगो का विश्वास था कि मन्दिर निर्माण से पुण्य-लाभ होता है –दे० मिहिरगुल का ग्वालियर पाषाण-शिला-लेख। अग्नि पुराण (दे० अ० ३८ १०-११ तथा २५-२६) का भी यही पोषण है।

'शैवागम निबन्धन' भी इसी तथ्य का समर्थन करता है —

> ये वै शिवालय भक्त्या शुभ कारयतीप्सितम्।
> त्रिसप्तपुरुषाल्लोक शम्भोर्नयति स ध्रुवम्॥
> तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महादेवस्य मन्दिरम्।
> सर्वैरवश्य कर्तव्य आत्माभ्युदयकांक्षिभि॥

'यमसहिता' का भी ऐसा ही साहित्य है—

> कृत्वा देवालय सर्वं प्रतिष्ठाप्य च देवताम्।
> *विवाप विधिवल्विप्र तल्लोक विन्दते ध्रुवम्॥*

इसी प्रकार महानिर्वाण-तन्त्र (दे० १३ २४०-४४) मे प्रासाद-स्तवन' बडा ही मार्मिक है।

अस्तु प्राचीन इस महाविश्वास का जन्म-समाज मे इतना प्रचार था कि वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थो म भी प्रासाद-वास्तु के विवेचनावसर ये ग्रन्थ पुराणो एव धार्मिक ग्रन्थो के सदृश देवतायतन-निर्माण-जन्य-पुण्य पर प्रबल एव प्रचुर सकेत करते हैं। इसी दृष्टि से समराङ्गण-सूत्रधार का प्रासाद-स्तवन बडा ही प्रशस्त है जो 'प्रासाद' वार (temple-wise) किया गया है। अत समराङ्गणीय 'प्रासाद-स्तवन' का यही पर समुल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा। वास्तव मे 'इष्टापूर्त' की परम्परा म प्रतिष्ठापित प्रासादो का माहात्म्य अन्यत्र दुर्लभ है—पुराण भी फीके दिखाई पडेंगे—ग्रन्थकार की ओजस्वी वाणी का निम्न उद्घोष सुनने लायक है :

प्रासादराज मेरु	एवमेष चतुःशृङ्गश्चतुर्द्वारोपशोभित ।
५५. १४.१५	मेरुर्मेरूपम कार्यो वाञ्छता शुभमात्मन ॥
	सर्वस्वर्णमय मेरु यद् दत्वा पुण्यमाप्नुयात् ।
	तमिष्टकाशैलमय कृत्वा तदधिक भजेत् ॥
सर्वतोभद्र	जय लक्ष्मी यश कीर्ति सर्वाणीष्टफलानि च ।
५५. ३०½;५६-१४०	करोति सर्वतोभद्र सर्वतोभद्रकः कृत ॥
	विधाय सर्वतोभद्र देवानामालय शुभम् ।
	लभते परम लोक दिवि स्वच्छन्द-भावितम् ॥

रुचकादिचतुष्षष्टि प्रासादा पुराणा भूषणार्थाय भुक्ति-मुक्ति प्रदा नृणाम् ।
५६-८

मेर्वादिविंशिकायाम्

श्रीधरः	श्रीधर कारयेद् यस्तु कीर्त्यर्थमपि मानव ।
५७ ४८.४९	इहैव लभते सौख्यममुत्रेन्द्रत्वमाप्नुयात् ॥
	भोगान् भुक्त्वा पुमान् स्वर्गं नीयते च परे पदे ।
	सर्वपापविनिर्मुक्तः शान्तश्च स्यान्न सशयः ॥
सुभद्रः	प्रासाद ये सुभद्राख्य कारयन्ति सुलक्षणम् ।
५७ १११½	कल्पकोटिसहस्राणि भद्र तेषा शिवापत ॥
सुरसुन्दरः	कुर्याद् य एन प्रासादमीदृश सुरसुन्दरम् ।
५७ पृ० ५७ वाँ	स वैरिञ्च युगशत भूम्यलोके महीयते ॥
नन्द्यावर्त-	भक्त्या ये कारयन्त्येन नन्द्यावर्तमनुत्तमम् ।
५७ पृ० ५७ वा	विमान शुभमारुह्य शक्रलोक व्रजन्ति ते ॥

सिद्धार्थ	य कुर्यात् कारयेद् यस्तु सिद्धार्थं सर्वकामदम् ।
५७ पृ० ६१	स भवेत् सर्वकामाप्त शिवलोके च शाश्वत ॥
शङ्खवर्धन	य शङ्खवर्धन कुर्यात् स भुनक्ति चिर महीम् ।
५७ पृ० ६२	वशगा यस्य सतत भवेल्लक्ष्मी कृताञ्जलि ॥
त्रैलोक्य भूषण	त्रैलोक्य-भूषण ब्रूमो वन्दित त्रिदशैरपि ॥
५७ पृ० ६३, ६४	आश्रय सर्वदेवानां पापस्य च विनाशकम् ॥
	त्रैलोक्य-भूषण यत्वा त्रिदशानन्दकारकम् ।
	कल्पान्त यावदध्यास्ते पुरुषस्त्रिदशालयम् ॥
पद्म	पद्माख्य कारितो येन प्रासादो रतिवल्लभ ।
५७ पृ० ६४	आत्मा समुद्धृतस्तेन पापपङ्कमहोदधे ॥
पक्षवाहु	पक्षवाहु कृतो येन त्रिगभ कर्मभूषित ।
५७ पृ० ६५	स त्रिनेत्रप्रताप स्यात् तुरङ्गव्रातनायक ॥
लक्ष्मीधर	अथ लक्ष्मीधर ब्रूमो य कृत्वा विजय नर ।
५७ पृ० ६८, ६९	राज्यमायुष्यपूजां च गुणानाप्नोति चैश्वरान् ॥
	लक्ष्मीधराख्य प्रासाद य कुर्याद् वसुधातले।
	अक्षये स पदे तत्वे लीयते नात्र सशय ॥
रतिदेह	रतिदेहमथ ब्रूम प्रासाद सुमनोरमम् ।
५० पृ० ६९-७०	अप्सरोगण-सकीर्णं कामदेवस्य मन्दिरम् ॥
	एव विध य कुरुते प्रासाद रतिवल्लभम् ।
	सन्तोषयति कन्दर्प स्याज्जनेषु स पुण्यभाक् ॥
सिद्धिकाम	सिद्धिकाममथ ब्रूमो प्रमथैरुपशोभितम् ।
५७ पृ० ७०-७१	धन-पुत्र-कलत्राणि कृते यत्राप्नुयान्नर ॥
नन्दिघोष	नन्दिघोषमथ ब्रूमो विपक्षमयनाशनम् ।
५७ पृ० ७२	य एन भक्तित कुर्यात् स भवेदजरामर ।
सुरानन्द	य करोति सुरानन्द वरदास्तस्य मातर ।
५७ पृ० ७५	सुरास्तस्य ह्यनिस्तार्यमपमृत्यु हरन्ति च ॥
हर्षण	हर्षण क्रियते यत्र स देश सुखमेधते ।
५७ पृ० ७७	क्षेम गोब्राह्मणानां स्यात पूर्णकामश्च पार्थिव ॥
दुर्जय	दुर्जय क्रियते यत्र पुरे नगरेऽथवा ।

५७ पृ० ७६	न भवेत् तत्र दुर्भिक्ष न च व्याधिकृत भयम् ॥
त्रिकूट	त्र मस्त्रिकूट प्रासादं सेवित त्रिदशैस्त्रिभि ।
५७ पृ० ७६	फल क्रतुसहस्रस्य येन मोक्ष च विन्दति ॥
वृद्धिराम	प्रासादस्यास्य कर्ता च यावच्चन्द्रार्कतारकम ।
५७ पृ० ८६	तावदिन्द्र इव स्वर्गे क्रीडत्यप्सरसा गणै ॥
कैलास	भुक्त्वा भोगाश्च कैलासे कल्पान्ते यावदीप्सितम ।
५७ ६३	शार्व पदमवाप्नोति शान्त ध्रुवमनामयम् ॥
त्रिविष्टप	कृत्वा त्रिविष्टप दिव्य प्रासाद पुरभूषणम ।
५७ पृ० ६५	वसेत् त्रिविष्टपे तावद्यावदाभूतसप्लवम् ॥
	तस्यान्ते तु परे तत्वे लयमाप्नोति मानव ।
क्षितिभूषण	गुणवान् नृपतिर्यद्वद् भूषयत्यखिला महीम् ।
५७ पृ० ६६	क्षिति विभूषयत्येव प्रासाद क्षितिभूषण ॥
	द्रव्येषु रेणसख्या या सुधायामपि यावती ।
	तावद्युगसहस्राणि कर्ता शिवपदे वसेत ॥
विमान	अश्वमेधप्रधानैर्यदिष्टै क्रतुशतैर्भवेत ।
५७ पृ० १०२	तदेकेन विमानेन फलमाप्नोति मानव ॥
मुक्तकोण	निर्मापयन् नर कश्चिन्मुक्तकोण महायशा ।
५७ पृ० १०६	सप्राप्नोति महासौख्य विमुक्त सर्वपातकै ॥
	सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त सर्वकिल्विषवर्जित ।
	सर्वपापविनिर्मुक्तो भोग मोक्ष च विन्दति ॥
	दिग्भद्रादिप्रासादेषु
दिग्भद्र	इम दिग्भद्रसज्ञ य प्रासाद कारयेत पुमान् ।
६४. १४	शतक्रतुफल सोऽपि लभते नात्र सशय ॥
महाभद्र	महाभद्रमिम योऽत्र कारयेद भक्तिमान नर ।
६४ ७८	स स्वर्गे सुरनारीभि सेव्यते मदनाज्ञया ॥
	भूमिजप्रासादेषु
मलयाद्रि	मलयाद्रिरथ प्रोक्त प्रासाद शुभलक्षण ।
६५ ३६	य एन कारयेत् तस्य तुष्यन्ति सकला सुरा ॥
	वर्षकोटिसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ।
सर्वाङ्ग-सुन्दर	सर्वाङ्ग सुन्दर नाम प्रासादमथ सुन्दरम ।
६५ १३१	भुक्तिमुक्तिप्रदाधार मण्डदम् ॥

टि०—इसी प्रकार का 'प्रासाद-स्तवन' समराङ्गण क प्रासाद-वास्तु म भरा पड़ा है । यह उपलक्षण-मात्र है । वे ही पद्य चुने गये हैं जो 'इष्टापूर्त' ओर सकेत करते हैं ।

लोक-धार्मिक

हिन्दू-प्रासाद की जिन विभिन्न पृष्ठ-भूमियो को लेखक ने अपने उन्मेष से उद्भावित किया है उनमे लोक-धर्मिणी का एक बडा ही महत्व-पूर्ण स्थान है। 'लोक-धर्मिणी' इस शब्द चयन म भारतवर्ष के इस विशाल भू-भाग के नाना जनपदो एव प्रान्तो तथा उनके अनेक-वर्गीय एव विभिन्न-भाषा-भाषी मानवो की मौलिक आस्था—भगवद्दर्शन, पुण्य-स्थानावलोकन, तप पूत-पावनाश्रम-विहरण एव प्राकृतिक-सुषमा-शोभित अरण्य, कानन, खण्ड, धाम ,आवर्त आदि का सेवन तथा पुण्यतोया सरिताओ के कूलावास—एक शब्द म 'तीर्थ-यात्रा' से तात्पय है। भारतवर्ष के सांस्कृतिक समुत्थान म, उसकी मौलिक एकता के सरक्षण मे तथा मानवता को उच्च स्तर पर लाने के सफल प्रयास मे तीर्थ-यात्रा ने महान् योगदान दिया है। मन्दिरो की स्थापना मे तीर्थों का एकमात्र हाथ है।

इतिहास (महाभारत) एव पुराण मे प्रतिपादित तीर्थ-यात्रा माहात्म्य इतना अधिक प्रचलित हुआ कि लोक-धर्म बन गया। इसी लोक-धर्म ने प्रासाद निर्माण की वह ऊर्वरा भूमि तैयार की जिस पर एक नहीं अनेक नही शतश नही सहस्रश भी नही अगणित प्रासादो की रचना सम्पन्न हुई। भारतवर्ष के राष्ट्रीय-गीत मे इसे देव-भूमि के नाम से पुकारा गया—देव भी इस देश मे निवास के वैसे ही अभिलाषी हैं, वे भी उसके प्रति उतनी ही ममता एव प्रेम रखते हैं जितनी किसी भी भारत-देश-निवसी की हो सकती है। महाभारत एव अष्टादश पुराणो की सब से बडी सास्कृतिक देन यही लोक-धर्म है, अतएव हमन इसके मर्म के मूल्याङ्कन मे हिन्दू-प्रासाद की इसे भी उतनी ही महत्वपूर्ण पृष्ठ-भूमि मानी है जितनी अन्य पूर्व प्रतिपादित पृष्ठ भूमियो को।

विष्णु-सहिता मे प्रासाद पूजा-गृह ही नही पूज्य भी है एव ऐहिक तथा पारलौकिक दोनो ऐश्वर्यों का दाता भी। यही कारण है कि मन्दिर-निर्माण की परम्परा के उदय मे 'भक्ति' ने बडा योग दिया। वैदिक यज्ञ कर्म प्रधान-सस्था थी। पौराणिक प्रासाद भक्ति प्रधान परम्परा बनी।

हिन्दू प्रासाद की इसी दृष्टि की दिव्य-ज्योति को देखने वाली क्रिश्चियन महिला सुश्री कुमारी डा० क्रैमरिश का निम्न कथन पठनीय है—

To the pilgrim and devotee who goes to the temple, it is a

Tirtha made by art, as others are by nature and often it is both in one A Hindu temple unlike the Vedic altar does not fulfil its purpose by being built, it has of necessity to be seen Darsana the looking at the temple, the seat, abode and body of divinity and its worship (puja), are the purpose of visiting the temple To fulfil this purpose in addition to bring an offering and work of piou, liberality, the temple has not only its proportionate measurement but also the carvings on its walls, and the total fact of its form"

इस उद्धरण ने प्रासाद-निर्माण प्रयोजन पर पूर्व प्रतिपादित पूर्त-धम मे पूव सकेतित तीर्थ-यात्रा की परम्परा पर जो सकत किया है उस पर वक्तव्य के लिये ही इस अध्याय की अवतारणा है।

भौतिक जगत से भी परे कोई आध्यात्मिक लोक है जिस के आलोक से आलोकित हो कर मानव पुनजन्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। विज्ञान भौतिक जगत (phenomenal world) तक ही सीमित है परन्तु विज्ञानो का विज्ञान तत्व-विद्या (metaphysics) अर्थात् दर्शन इसी भौतिक जगत के परे पारलौकिक जगत (noumenon) की अन्वीक्षा प्रदान करता है अतएव इसे 'आन्वीक्षिकी' के नाम से पुकारा गया है।

भारतीय तत्व विद्या का मूलमत्र ज्ञानाधिगम है। विना ज्ञान के मुक्ति सभव नही—ऋते ज्ञानान्न मुक्ति। परन्तु यह ज्ञान-मार्ग बडा दु साध्य है – सर्वसुकर नही। सभी तो ज्ञानी नही अत अज्ञानियो को भी परमपद की प्राप्ति का कोई साधना-पथ होना ही चाहिये। अग्निपुराण (दे० १०६) तीर्थ-यात्रा का रास्ता बताता है जिस पर चलने से न केवल भुक्ति ही प्राप्य है वरन् मुक्ति भी। श्रुति एव स्मृति, पुराण तथा आगम म प्रतिपादित नाना मार्ग इसी परम तत्व तक पहु चने के उपाय हैं। भूलोक का वासी मानव दिव्य स्वर्ग को पहुचने के लिये सोपानो का अभिलाषी है। मन्दिर की नाना भूमिकायें एव सर्वोपर प्रतिष्ठित 'आमलक' साधन एव साध्य की रूपक-रञ्जना है। इसी प्रकार भवसिन्धु से पार उतरने का अनन्यतम उपाय तीर्थ सेतु है।

'तीर्थ' का शब्दार्थ तो जलावतार है। जल को जीवन भी कहा गया है। इस प्रकार तात्विक तीर्थ तो मनुष्य की अपनी निजी आत्मा ही है जिस को पार कर (अर्थात् पहिचान कर) परम तत्व मे(साध्य) मे लीन होने का साधन है।

तीर्थ का यह अध्यात्मिक मर्म है। तीर्थ का भौतिक महत्व भी इसी परम तत्व—मोक्ष का साथ है। तीर्थ-यात्रा साधन है—साध्य तो मोक्ष है। मोक्ष के ज्ञान, वैराग्य आदि साधनो के साथ-साथ तीर्थ-यात्रा भी एक परम साधन है। ज्ञानियो के लिये तो आत्मा ही परम तीर्थ हैं (दे० महाभा० अनु० १७० २-३, १२ १३) परन्तु अनल्पज्ञ विशाल मानव-समूह को भवसागर पार उतरने का परम साधन तीर्थ सेतु है।

तीर्थ और जलाशय का अभिन्न सम्बन्ध है। इन का क्षेत्र, धाम, खण्ड, अरण्य आदि नाना सज्ञाओ से पुकारा गया है। भारतवर्ष के धार्मिक भूगोल म ऐसे स्थानो की सख्या सख्यातीत है—

तिस्र कोट्योऽर्धकोटिश्च तीर्थानां वायुरब्रवीत।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तत्सर्वं जाह्नवी स्मृता
43639 म० पु० ११०.७

षष्टिकोटिसहस्राणि षष्टिकोटिशतानि च
तीर्थान्येतानि देवाश्च तारकाश्च नभस्तले॥
गणितानि समस्तानि वायुना जगदायुषा॥

ब्र० पु० १७५ ८३

तस्मात्सङ्क्षेपतो वक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च॥
विस्तरेण न शक्यन्ते वक्तु वर्षशतैरपि॥

ब्र० पु० २८. ७-८

यहा पर एक निर्देश यह आवश्यक है कि प्राचीन भारतीयो ने जहा-जहा ऐसे सुन्दर प्राकृतिक स्थानो को देखा उनमें रमकर वहा पर आराधना का स्थान स्थापित किया—मन्दिर या पूजा-गृह का निवेश प्रारम्भ किया। इन स्थानो पर जल-योग अनिवार्य रहता था—कोई पुष्पकरिणी, तडाग, सरिता, सगम, समुद्र-वेला आवश्यक रहते थे।

पर्वतो की पुण्य-भूमि भी तीर्थों के लिये विशेष उपयुक्त समझी गयी। अरण्यो को भी तीर्थ-स्थानो के स्थापन मे कम महत्वपूर्ण नही समझा गया। यही कारण है, जैसा आगे के विवेचन से प्रकट है, इस देश मे ऐसे प्राकृतिक स्थानो पर अगणित तीर्थों का उदय हुआ। इस देश की आध्यात्मिक सस्कृति (spiritual cultue) की यह महिमा है, अन्यथा भौतिकवादी तो इन स्थानो पर होटल बनवाते और शिकार खेलकर पडाव डालते जैसा कि पश्चिम के देशो मे देखा जाता है।

लोक-धर्म एवं उसमे तीर्थ-स्थानो की इस औपोद्घातिक समीक्षा में एक तथ्य यह है कि वैसे तो स्मृतिकारो के मत मे तीर्थ-यात्रा सामान्य धर्मों मे एक थी—

क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरु-शुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥

आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् ।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥

परन्तु कालान्तर मे पुराणो की परम्परा मे वह (अर्थात् तीर्थ-यात्रा) अविकल सामान्य-धर्म—लोक-धर्म के रूप मे परिणत हो गयी ।

हम जानते ही हैं कि मनु एवं याज्ञवल्क्यादि धर्म-शास्त्रकारो के मत मे तीर्थों का महत्व अत्यन्त ऊंचा नहा नही था, परन्तु महाभारत एवं पुराण मे तो तीर्थ-माहात्म्य ही महा माहात्म्य है । महाभारत का इस लोक-धर्मिणी सरणी पर निम्न प्रवचन कितना मार्मिक है—

ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विव यथाक्रमम् ।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥
न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञा प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ॥
प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित्।
नार्थन्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः ॥
यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधांवर ॥
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥

महाभा० वन० ८२. १३-१७

अपि च

पापानां पापशमनः धर्मवृद्धिस्तथा सताम् ।
विज्ञेयं सेवितं तीर्थं तस्मात्तीर्थपरो भवेत् ॥
सर्वेषामेव वर्णानां सर्वाश्रमनिवासिनाम ।
तीर्थं फलप्रदं ज्ञेय नात्र कार्या विचारणा ॥

विष्णु-धर्मोत्तर २७३ ७ तथा ६

या पर तीर्थ-यात्रा को लोक-धर्म मे लेने का एक मर्म यह है कि तीर्थ-यात्रा में भी निष्ठा की आवश्यकता है। तीर्थ-यात्रा आजकल का भ्रमण (touring) नहीं है। महाभारत का स्पष्ट उद्घोष है—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
प्रतिग्रहादुपावृत्त सन्तुष्टो येन केनचित् ॥
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥
अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रिय. ।
विमुक्त सर्वपापेभ्य स तीर्थफलमश्नुते ॥
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रत ॥
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥

महाभा० वन० ८२६-३२

जो नैष्ठिक नही वे तीर्थ-फल के भागी नही बनते। अत तीर्थ-यात्रा यद्यपि एक भावना है तथापि इस दृष्टि से साध्य भी है जो नैतिक स्तर के ऊचा किये बिना निष्फल है। भाव-नैर्मल्य अनिवार्य है। स्कन्द-पुराण स्पष्ट कहता है (दे० काशी० ६ २८ ४५)—

दानमिज्या तप शौच तीर्थ-सेवा श्रुत यथा ॥
सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मल ॥

निर्मल मन ही परम तीर्थ है—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटोदयोर्मि ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

वामन पु ४३-२५

पद्म-पुराण तो इस अर्थ को और आगे बढ़ा देता है (दे० द्वि० ३६, ५६-६१)।

तीर्थों की कल्पना कब उदय हुई? तीर्थों का जलाशय-मात्र अर्थ है अथवा इसके व्यापक क्षेत्र (wide scope) मे अन्य स्थान भी गतार्थ हैं, कौन कौन से स्थान विशेष प्रशस्त है, पुराणो की तीर्थ—सूची कितनी लम्बी है, तीर्थों एव देवालयो की ऐतिहासिक परम्परा का कहाँ तक अक्षुण्ण रक्षण हुआ—आदि नाना प्रश्न हैं जिन पर इस उपोद्घात् में सविस्तर वर्णन असम्भव है, अथच अप्रासङ्गिक भी। तथापि हिन्दू-प्रासाद के उदय मे लेखक की दृष्टि मे सर्वतोवरिष्ठा पृष्ठ-भूमि तीर्थ है।

'तीर्थ' शब्द ऋग्वेदादि संहिताओं में भी प्राप्त होता है। अतः इस शब्द की शाब्दिक प्राचीनता ही सिद्ध नहीं होती वरन् तीर्थ की पावनता भी प्रकट है। ऋग्वेद के प्रथम म० १६६.६ तथा १७३ ११ एवं चतुर्थ म० २६ ३ में तो तीर्थ-शब्द का अर्थ पथ या मार्ग प्रतीत होता है, परन्तु सप्तम म० ४७ ११— सुतीर्थं अर्वतो यथानु नो नेषथा सुगम्—आदि तथा प्रथम म० १ ४६ ८—अरित्र वा दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूना रथ —मे तीर्थ शब्द का 'जलावतार' अर्थ (जो आगे कोषकारों ने माना है—'तीर्थं योनौ जलावतारे च'— इति हलायुध)—निश्चित है। और आगे बढ़िये तो ऋग्वेद मे ही तीर्थ शब्द से एक पुण्य स्थान का बोध होता है—तीर्थे न दस्मम् उप यन्त्यूमा — ऋ० दशम म० ३१ ३। ऋग्वेद के सप्तम म० की १६.३७ वीं ऋचा— सुवास्त्वा अधि तुग्वनि पर निरुक्तकार यास्काचार्य ने 'सुवास्त्व' नामक नदी का अर्थ ग्रहण किया है और 'तुग्वन' का अर्थ तीर्थ।

इसी प्रकार वैदिक-वाङ्मय के अन्य प्राचीन ग्रंथो मे भी तीर्थ-परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। निम्न अवतरणो का पारायण रोचक होगा—

(i) 'अप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी तीर्थे स्नाति —

तै० सं० षष्ठ—१ १. १-२

(ii) 'ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः —

तै० सं० चतुर्थ ५ ११. १-२

(iii) 'समुद्रो वा एष सर्वहरो यदहोरात्रे तस्य हैते अगाधे तीर्थे यत्सन्ध्ये तद्यथा अगाधाभ्यां तीर्थाभ्यां समुद्रमतीयात्तादृक् तत्

श० ब्रा० द्वितीय. ६

(iv) 'ते अन्तरेण चात्वालोत्करा उपनिष्क्रामन्ति तद्धि यज्ञस्य तीर्थमाप्मानं नाम—

श० ब्रा० १८ ६

(v) 'तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीः' अथर्व० अष्टादश० ४. ७

(vi) 'यथा धेनुं तीर्थे तर्पयन्ति' तै० ब्रा० द्वि० १. ८. ३

(vii) 'चैतद्वै देवानां तीर्थम्' षड्वि० ब्रा० ३. १

टि० १—इसी प्रकार पञ्चविंश ब्रा० (६.४) एवं शा० श्रौ० सू० (५.१४.२) आदि प्राचीन वैदिक ग्रंथो मे भी 'तीर्थ' के संकेत हैं।

ऊपर एक आकूत है 'तीर्थ' शब्द के अभिधेयार्थ मे एकमात्र जलाशय (सरिता आदि) से ही तात्पर्य है अथवा अन्य पावन स्थानो का भी ? इस जिज्ञासा मे हमे पुन प्राचीन साहित्य की शरण मे जाना होगा? ऋग्वेद मे ही जल, सरितायें, पर्वत एव अरण्य भी देवनात्मा के रूप मे परिकल्पित किये गये हैं, अत ये सभी 'तीर्थ' हैं— ऐसा आकूत असङ्गत न होगा। ऋग्वेद के सप्तम म० ४६ वी ऋचा मे दिव्य जलो से रक्षा की अभ्यर्थना—ता आपो देवीर-इह मामवन्तु—से हम परिचित ही हैं। वही पर जल को 'पुनान' कहा गया है। सप्त० म० की ४७ वी तथा दशम की ९ वी तथा ३० वी ऋचाओ मे तो जल मे देवनात्मा का आरोपण कर सम्बोधन है। तै० स० (द्वि० ६ ८ ३) का तो उद्घोष है—

आपो वै सर्वा देवता

अथर्ववेद का जल-विज्ञान, कितना सत्य है, वह निम्न ऋचा मे द्रष्टव्य है—

हिरण्यवर्णा शुचय पावका यासु जातः सविता यास्वग्नि ।
या अग्नि गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥

इस प्रकार हमने देखा वेद मे जल कितना पवित्र है तो जल-वाहिनी नदिया और भी अधिक सुतरा पावन होगी ही। ऋग्वेद की निम्न ऋचा के अवलोकन से लग भग २० नदियो की सूची प्राप्त होती है और उनका यत्र तत्र यथास्थान सुन्दर सकीर्तन भी प्राप्त होता है .—

इम मे गगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोम सचता परूष्ण्या ।
असिक्न्या मरुदवृधे वितस्तयार्जीकिये शृणुह्या सुषोमया ॥
तुष्टाभ्या प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या ।
त्व सिन्धो कुभया गोमती क्रुमुं मेहत्न्वा सरथ याभिरीयसे ॥
ऋ० दश० ७५-५-६

इनमे तीन प्रधान नदिया थी—सरस्वती, सरयू तथा सिन्धू। ऋग्वेद मे इन नदियो का बडा सुन्दर गुणगान है। इन्हें देवी और माता के नाम से पुकारा गया है। ऋग्वेद म सरस्वती को—'अम्बितमे नदीतमे देवीतमे सरस्वति' कहा गया है। सिन्धु और गङ्गा के समान यह महानदी सरस्वती यदि आज भी होती तो कितना अच्छा होता—सरस्वती का तट बडा पावन था। बडे बडे मत्र इसी पावन तट पर सम्पन्न हुए—ऐसा ऐ० ब्रा० ८ १ का प्रमाण

है—अपयो वं सरस्वत्या सत्रमासत। देवराज ने तो अपने प्रवचन में निम्नलिखित कतिपय सारस्वत तीर्थ माने हैं—

पल्नप्रस्रवण वृद्धस्याक सारस्वतमादित्यती कौरव,
वैनयत पृथुद नैमिष विनशन वशोद्भेद प्रभासमिति सारस्वतानि।

इस महानदी के विनोद का कोई प्राकृतिक कारण अवश्य होगा—यह तो भगर्भ विद्या विशारद ही बता सकते हैं।

अस्तु, जल एवं जलवाहिनी नदियों की पावनता पर संकेत करने के उपरान्त अब पर्वतों की प्रान्तर उपत्यकाओं को देखें।

ऋग्वेद की निम्न ऋचा में पर्वतों की उपत्यकाएँ एवं सरिताओं के सङ्गम पवित्र प्रतीत होते हैं

उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत। सप्तम म० ६ ८

ऋग्वेद में पर्वत का संघात न इन्द्र के साथ किया गया है और सायण ने पर्वत की मेघ के अर्थ में व्याख्या की है परन्तु षष्ठ म० ४९ १४वीं ऋचा में पर्वत अहिर्बुध्न्य एवं सविता के साथ-साथ स्वाधीन रूप में सम्बोधित है—उसका भी अर्थ सायण मेघ ही करते हैं परन्तु तृतीय म० ३३ १ में तत्कालीन दो महानदियाँ विपाश (आधुनिक व्यास) तथा शुतुद्री (आधुनिक सतलुज) पर्वतों की गोद में निकलती हुई वर्णित की गयी हैं। यहाँ पर पर्वत का अर्थ पर्वत (पहाड़) ही है।

अथर्ववेद हिमालय की जड़ी बूटियों से परिचित था —

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत् सर्वाश्च यातुधान्य ॥ अथ० ४ ९ ९

सूत्र-ग्रन्थों (दे० हिरण्याक्ष गौतम बौधायन आदि) में पावन प्रदेशों की गणना में सभी पर्वत सभी सरिताएँ सभी पुण्यतोया पुष्करिणियाँ ऋषि आश्रम देवतायतन आदि सभी पवित्र एवं तीर्थ माने गये हैं। पुराणों में तो नदियों एवं पर्वतों तथा सागरों की पावनता पर प्रवचन हैं। निम्न प्रवचन पारायण के योग्य हैं —

सर्व पुण्य हिमवतो गङ्गा पुण्या च सर्वत।
समुद्रगा समुद्राश्च सर्वे पुण्या समन्तत ॥ वायु० ७७ ११७
राजा समस्त तीर्थानां सागर सरितां पति
नारदीय (उत्तर) ५८ १९

सर्वे प्रस्रवणा पुण्या सर्वे पुण्या शिलोच्चया ।
नद्य पुण्या सदा सर्वा जाह्नवी तु विशेषत ॥
शङ्ख० ८ १४

सर्वा समुद्रगा पुण्या सर्वे पुण्या नगोत्तमा ।
सर्वमायतन पुण्य सर्वं पुण्या वनाश्रमा ॥ पद्म० ४ ८३ ४६

तास्तु नद्य सरस्वत्य सर्वा गङ्गा समुद्रगा
विश्वस्य मातर सर्वा जगत्पापहरा स्मृता
ब्राह्माण्ड २ १६ ३६

भागवत (पच १६ १६) तथा ब्रह्माण्ड (द्वि० १६ २०—२३) आदि मे भी इसी प्रकार की प्रशसा है। महा वि कालिदास (कुमार १ १) भी तो हिमालय को देवतात्मा कहते है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थों के व्यापक क्षत्र मे सरिताओ एव सागरो की ही गतार्थता नही, बडे २ पावन तप पूत अरण्य भा महातीथ हैं—नैमिपारण्य के माहात्म्य से कौन अपरिचित है? ऋग्वेद (दे० दशम १४६) मे अरण्य को देवता के रूप मे सम्बोधित किया गया है। वामन-पुराण मे कुरुक्षेत्र के सात अरण्य बडे ही पावन एव पापहर प्रतिपादित है—

शृणु सप्त वनानीह कुरुक्षेत्रस्य मध्यत ।
येषां नामानि पुण्यानि सर्व-पापहराणि च ॥
काम्यक च वन पुण्य . .. ।

अस्तु, विस्तरेणालम्। तीर्थ स्थानो से तात्पय पुण्य प्रदेशो से है वे नदिया है या पुष्करिणिया, सागर हैं कि सगम वन हैं कि पर्वत—वे सभी स्थान जो किसी न किसी पुण्य-कार्य, तपस्या अथवा इज्या स पूत हो चुके हैं—व सब तीर्थों के नाम से प्रख्यात हुए। हम जानते ही है कि हमारे शरीर म ही कोई कोई अवयव (जैसे दक्षिण हस्त) अन्य अवयवो की अपेक्षा विशेष पुनीत सतझा जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी के नाना प्रदेशो म कुछ प्रदेश अपनी प्राकृतिक सुषुमा, अपने अद्भुत प्रभाव, जलाधिक्य अथवा अन्य किसी धार्मिक कार्य के कारण विशेष पूत समझे जाते हैं वे ही तीर्थ हैं। प्राचीनाचार्यों ने लिखा भी है

१ यथा शरीरस्योद्देशा केचिन्मेध्यतमा स्मृता
तथा पृथिव्या उद्देशा केचित् पुण्यतमा स्मृता ॥
प्रभावादद्भुताद्भूमे सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीना च तीर्थाना पुण्यता स्मृता ॥पद्म पु० द्वि० ६२ ४६ ७

॥ मुख्या पुरुष-यात्रा हि तीर्थयात्रानुषङ्गत ।
सद्भि रूमाश्रितो भूप भूमिभागस्तथोन्यते ॥
यद्धि पूर्ततमै सद्भि, सेवित धर्म सिद्धये ।
तद्धि पुण्यतम लोके सन्तस्तीर्थं प्रचक्षते ॥ स्कन्द पुराण

ग्रर्थात् धर्म सिद्धि के लिये सज्जनो से सेवित स्थान को—वह सरिता तट है, पुष्करिणी प्रदेश है या सगम है ग्रथवा वन-भाग या पर्वत-भाग या ग्रन्य कोई ऐसा ही पावन प्राकृतिक प्रदेश—सभी तीर्थ की सज्ञा से पुकारे गये हैं।

तीर्थ-माहात्म्य की मन्दाकिनी के कुछ ही पावन तटो पर हम विचरण कर सके। विस्तार-भय से ग्रब सक्षेप मे तीर्थों की प्रधान ग्रौर गौड सूची पर दृष्टि डाल कर इस स्तम्भ को समाप्त करना है। ऊपर के उपोद्घात से तीर्थों की परिगणना मे सर्वप्रथम नाम नदियो के हैं। नदियो म गङ्गा (नदीपु गङ्गा)का सर्वश्रेष्ठ पद है। अरण्यो मे नैमिषारण्य, तडागो मे पुष्कर तथा क्षेत्रो मे कुरुक्षेत्र। महाभारत का गान है—

पृथिव्या नैमिष तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम् ।
त्रयाणामपि लोकाना कुरुक्षेत्र विशिष्यते ॥ वन प० ८३ २०२

ब्रह्मपुराण तीर्थों को चार समूहो—दैव, ग्रासुर, ग्रार्ष एव मानुष—मे विभाजित करता है। इनमे प्रथम यथानाम ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि देवो के द्वारा प्रतिष्ठापित, द्वितीय ग्रसुरो क द्वारा सन्निविष्ट (जैसे गया), तृतीय ग्रार्ष यथानाम ऋषि-प्रतिष्ठापित (यथा—प्रभास, नरनारायण बदरिकाश्रम ग्रादि)तथा ग्रन्तिम मानुष—ग्रम्बरीष, मनु, कुरु ग्रादि राजन्यो के द्वारा।

इसी पुराण मे दक्षिणापथ की ६ नदियो तथा हिमवदाविर्भूता उत्तरापथीय ६ नदियो—गोदावरी भीमरथी, तुङ्गभद्रा, वेणिका, तापी, पयोष्णी, भागीरथी, नर्मदा, यमुना, सरस्वती, विशोका तथा वितस्ता—को देव-तीर्थ माना गया है।

नर्मदा—तीर्थों मे 'त्रिस्थली' का माहात्म्य ग्रति पुरातन है। त्रिस्थली से तात्पर्य प्रयाग काशी ग्रौर गया से है। इन महातीर्थों पर बड बडे पोथे लिख गये हैं। इनक ग्रपन-ग्रपने ग्रनेक उप-तीर्थ भी हैं। ग्रस्तु, हम सभी इन तीर्थों पर यहा सविवरण वणन नहीं कर सकते। विशेष ज्ञातव्य के लिये पुराणो का पारायण आवश्यक है। इस दिशा मे डा० काण का महनीय प्रयास बडा ही स्तुत्य है—(see H D Vol IV)। ग्रत यह ग्रध्याय एव इसका विषय हिन्दू प्रासाद की उस पृष्ठ-

भूमि की ओर सङ्केत करता है जिससे तीर्थ-स्थापन एवं तीर्थ-यात्रा के लोक-धर्म में प्रासादों (मन्दिरों) की प्रतिष्ठा अनिवार्य एवं अभिन्न अङ्ग बनी, अतः हम उन्हीं तीर्थों पर अति सङ्क्षेप में थोड़ा सा और विवेचन करेंगे जिनका सम्बन्ध देवतायतनों की प्रतिष्ठा से है। अथच विषय की पूर्णता की दृष्टि से अन्त में एक तीर्थों की देवतानुसार पुरस्सर सूची भी देने का प्रयास करेंगे, जो 'हिन्दू प्रासाद' में पठनीय है।

गङ्गा तीर्थों में महातीर्थ गङ्गा है। भारतवर्ष की आध्यात्मिक महा संस्कृति में जननी, जन्म-भूमि और गङ्गा की त्रयी महापूज्या है। वैसे तो मध्यकालीन तीर्थ-ग्रन्थों में अपने-अपने जानपदीय संस्कारों एवं स्व-प्रान्त-प्रेम (Regional culture and Provincialism) के दृष्टि-कोण से पण्डितों ने एक तीर्थ का दूसरे तीर्थ से घटा-बढ़ा कर लिखा है; परन्तु कुछ सामान्य तीर्थ हैं जो इस महादेश के राष्ट्रीय तीर्थ बन गये हैं—वाराणसी और रामेश्वर के समान गङ्गा सभी भारतीय हिन्दुओं का परम पावन तीर्थ है। नदियों में गङ्गा सर्वश्रेष्ठ पुण्यतोया है। गङ्गा का महामाहात्य इसी से प्रगट है कि स्वयं पद्मनाभ कृष्ण कहते हैं—स्रोतसामस्मि जाह्नवी—गीता १०. ३१। गङ्गा के पावन तट पर अगणित प्रासादों, विमानों एवं आयतनों का उदय हुआ है। सभी महातीर्थ—वाराणसी प्रयाग, कनखल, हरिद्वार आदि गङ्गा के तट पर ही तो स्थित हैं।

नर्मदा —नदी-तीर्थों में गङ्गा के बाद नर्मदा का नाम आता है। नर्मदा का माहात्म्य इसीसे प्रकट है कि कहीं-कहीं पर गङ्गा से भी अधिक नर्मदा का महत्व स्थापित है :—

त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्ताहेन तु यामुनम्।
सद्यः पुनाति गांगेयं दर्शनादेव नार्मदम्॥
पद्म० आदि० १३.७, मत्स्य १८६. ११

नर्मदा का दूसरा नाम रेवा था। मत्स्य-पुराण (दे० १६४४५) तथा पद्म-पुराण (आ० अ० २१४४) का कथन है कि नर्मदा के स्रोत अमर-कण्टक से लगाकर उसके समुद्र-सङ्गम तक दशकोटि तीर्थ हैं। अग्नि एवं कूर्म में तो यह संख्या ६० करोड़ ६० हजार हो गई। भले ही यह संख्या अतिशयोक्ति हो परन्तु यह निर्विवाद है कि दक्षिण के बहुसंख्यक तीर्थ एवं मन्दिर नर्मदा के तट पर उदय हुए और आज भी विद्यमान हैं। इनमें महेश्वर-तीर्थ (ओंकार), शुक्ल-तीर्थ, भृगु-तीर्थ, जामदग्न्य-तीर्थ आदि विशेष प्रख्यात हैं। अन्य नार्मद-तीर्थों में माहि-

ण्मती की बडी महिमा है। यह ओंकार-मान्धाता के नाम से भी सकीर्तित हैं।

गोदावरी—गोदावरी का माहात्म्य रामचरित से निखर उठा—यह हम सभी जानते है। दडकारण्य एव पञ्चवटी का पावन प्रदेश गोदावरी के कूल पर ही है। बहुत से मन्दिरो का उदय भी इस महानदी के पावन प्रदेश पर पनपा। नासिक गोदावरी के तट पर स्थित है। गोदावरी की प्राचीन सज्ञा गौतमी थी। गोदावरी दक्षिण की गङ्गा है। *ब्रह्म-पुराण* की परम्परा मे—

विन्ध्यस्य दक्षिणा गङ्गा गौतमी सा निगद्यते।
उत्तरे सापि विन्ध्यस्य भागीरथ्यभिधीयते॥

ब्रह्म पुराण मे गोदावरी के तट पर स्थित लगभग १०० तीर्थों का गुणगान है, उनमे त्र्यम्बक, कुशावर्त, जन-स्थान, गोवर्धन, प्रवरासङ्गम तथा निवासपुर विशेष प्रख्यात हैं।

गोदावरी की उपान्त-भूमि मे नासिक एव पञ्चवटी इन दो तीर्थों की बडी महिमा है। नासिक प्राचीन नगरी है। यह ईसा से कम से कम २०० वर्ष पूर्व विद्यमान थी। बाम्बे गजेटियर मे नासिक के ६० मन्दिरो एव पञ्चवटी पर १६ *मन्दिरो का उल्लेख है, परन्तु ये सभी मन्दिर कथाशेष हैं। १६८० ई० मे औरगजेब* के दक्षिणी सूबेदार के द्वारा विनष्ट किये गये थे—यह ऐतिहासिक तथ्य है। आधुनिक सभी विद्यमान मन्दिर पूना के पेशवा (१७५०-१८१८) के द्वारा निर्मापित हैं। इनमे तीन विशेष उल्लेख्य हैं—पञ्चवटी का रामजी, नारोशकर अथवा घण्टा-मन्दिर तथा सुन्दर-नारायण। पञ्चवटी के सीता-गुम्फा के निकट कालाराम का मन्दिर भी बडा विख्यात है।

पुष्कर-क्षेत्र—महाभारत (वन पर्व ८२ २६-२७) का उद्घोष है —

पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणा पुरा।
सिद्धि समभिसम्प्राप्ताः पुण्येन महतान्विता॥
तत्राभिषेकं य कुर्यात्पितृदेवार्चने रत।
अश्वमेधाद्दशगुण फलं प्राहुर्मनीषिण॥

पद्म-पुराण का भी पारायण (पचम २७-२८) सुनिये—'नास्मात्परतर लोके ऽस्मिन्परिपठ्यते'। यह अजमेर से ६ मील पर है। यहा पर ब्राह्म-प्रासादो मे एक अब भी विद्यमान है। इसके कुण्डों (ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ) की बडी महिमा है। इस क्षेत्र की पुष्कर-सज्ञा का कारण यहीं पर कमल भ— कमलासन ब्रह्मा द्वारा अपने पुष्कर (कमल) का विसर्जन है।

कुरु-क्षेत्र —यह अम्बाला से २५ मील पर है। यह महाक्षेत्र एवं महातीर्थ है। इस पर अति प्राचीन सकेत भी प्राप्त हैं (दे० ऋ० दशम ३३ ४, ऐ० ब्रा० सप्त० ३०, तै० आ० पचम १ १ एव कात्यायन श्रौत-सूत्र आदि)। कुरुक्षेत्र का दूसरा नाम धर्म-क्षेत्र पडा (दे० गीता धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे)। आर्यों की गौरव-गाथा में कुरुक्षेत्र एव ब्रह्मावर्त दोनो ही भौगोलिक दृष्टि से बडे प्रख्यात हैं। कुरुक्षेत्र पर प्राचीन प्रवचनो से प्रतीत होता है यह एक वैदिक सस्कृति का प्रख्यात केन्द्र था—विशेषकर यज्ञ-स्थल—देवा वै सत्रमासत .. तेषा कुरुक्षेत्रे वेदिरासीत —तै० आ० प० १ १। इस क्षेत्र का नाम महाराज कुरू से पडा। वामन-पुराण का प्राचीनस्थान है कुरु ने इन्द्र से वर मागा —

यावदेतन्मया कृष्ट धर्मक्षेत्र तदस्तु व ।
स्नातानां मृतानां च महापुण्यफलं त्विह ॥

कुरुक्षेत्र की कितनी सीमा थी और यहा पर कौन-कौन तीर्थ तथा पुण्य-स्थान थे—इन सब का अखिल सर्कीतन न कर कुरुक्षेत्र के कतिपय प्रसिद्ध पुण्य-स्थानो का नाम-सर्कीतन ही पर्याप्त है। इनमे ब्रह्मसर नामक पुष्करिणी प्रख्यात है। व्यास स्थली या व्यास-तीर्थ आधुनिक बसथली, (थानेश्वर के दक्षिण-पश्चिम १७ मील पर), अस्थिपुर (यही पर महाभारतीय योद्धाओ का अस्थि-सस्कार हुआ था—अतः यथार्थ नाम) के अतिरिक्त यहा पर एक प्राचीन मन्दिर था। कनिंघम के मत मे चक्रतीर्थ इसी की सज्ञा है। पृथूदक (सर्वश्रेष्ठ सारस्वत तीर्थ) आधुनिक पेहेवा है जो करनाल जिले मे है।

त्रिस्थली—अस्तु, विस्तारभय से अन्य नाना पावन एव प्रख्यात क्षेत्रो का यहा सकीर्तन न कर त्रिस्थली—प्रयाग, काशी और गया पर अति सक्षेप मे समाहार कर तीर्थ-सूची से तीर्थ-माला ग्रथनीय होगी।

प्रयागराज —प्रयाग को तीर्थ-राज कहा गया है। प्रयाग पर सर्वप्राचीन सकेत ऋग्वेद के एक खिल मे (दे० म० १० ७५) मे है। पुराणो एव महाभारत मे इस की बडी महिमा गायी गयी है। तीर्थ राज प्रयाग के प्रधानतया तीन विभाग किये गये हैं —प्रयाग-मण्डल, प्रयाग तथा वेणी (त्रिवणी)। प्रयाग शब्दार्थत प्रजापति ब्रह्मा का यज्ञ-स्थल होने के कारण प्रयाग (प्र(प्रकृष्ट)+याग (जहा पर)) कहलाया। राज-शब्द के योग से यह तीर्थों का राजा है—ऐसा पुराणो का विश्वास है।

काशी—प्राचीनता, पुण्यता एव प्रशस्तता मे काशी की समता इस देश की (और विदेश की भी) कोई भी नगरी नहीं कर सकती। धर्म-पीठ और विद्या-

पीठ - धर्म-क्षेत्र एवं शास्त्र-क्षेत्र का यह काञ्चन रत्न संयोग अन्यत्र दुर्लभ है। न केवल हिन्दू-धर्म, उसकी एक विशिष्ट एवं विलक्षण शाखा बौद्ध-धर्म का भी यह प्रधान ही नहीं प्रथम प्रवर्तन-पीठ है।

वाराणसी और काशी का बड़ा प्राचीन इतिहास है। शतपथ ब्रा०, गोपथ ब्रा०, बृहदारण्यक एवं कौषीतकी उपनिषदों आदि में भी यह सामग्री पठनीय है। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पतञ्जलि के महाभाष्य में भी काशी के प्राचीन संकेत हैं। महाभारत और हरिवंश में तो पूरा इतिहास पढ़ने को मिलेगा। बौद्ध-ग्रंथों के परिशीलन से भी यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि महात्मा बुद्ध के समय (ई० पू० पञ्चम शतक) काशी, चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत तथा कौशाम्बी के समान समृद्ध एवं प्रख्यात नगर था। पुराणों में तो पृथुल प्रवचन है।

अस्तु इस लम्बे तथा विशाल इतिहास पर विशेष चर्चा यहां अप्रासङ्गिक है। काशी के प्राचीन पांच नाम हैं —वाराणसी, काशी, अविमुक्त, आनन्दकानन और श्मशान अथवा महाश्मशान। इन नामों का भी लम्बा इतिहास है। संक्षेप में काशी—काशते प्रकाशते राजते वा—से सम्पन्न हुआ तथा यह प्रकाश उस ज्योति से अभीष्ट है जो भगवान् शङ्कर के ज्योतिर्लिंग की आधायिका है। वाराणसी में वहां का दो प्राचीन नदियों—वरणा और असि का इतिहास छिपा है। वाराणसी के भूगोल के अतिरिक्त उसकी तत्वविद्या बड़ी रोचक है। वरणा और असि के भौगोलिक अर्थ में एक आध्यात्मिक रहस्य पर जाबालोपनिषद् का जो रहस्य है वह काशी के तीसरे नाम पर भी बड़ा सुन्दर संकेत करता है। अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—इस अनन्त, अव्यक्त आत्मा को कैसे जाना जाय? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया वह अविमुक्त के रूप में उपास्य है, क्यों कि आत्मा अविमुक्त में प्रतिष्ठित है। पुनः प्रश्न उठा अविमुक्त की प्रतिष्ठा कहां पर है? उत्तर आया—वरणा और नासी के मध्य में अविमुक्त प्रतिष्ठित है? वरणा और नासी का क्या अर्थ? वरणा सर्वेन्द्रिय-दोषों को काटने वाली (नाश करने वाली) तथा नासी सर्वेन्द्रिय-जन्य पापों को नाश्न वाली। फिर प्रश्न हुआ इन दोनों का स्थान कहाँ?—तो याज्ञवल्क्य का उत्तर हुआ—भ्रू और नासिका का जो सन्धि-प्रदेश है—अर्थात् ध्यानम्।

अविमुक्त (काशी के तीसरे नाम) का सामान्य अर्थ न + विमुक्त है अर्थात् भगवान् शङ्कर और भगवती पार्वती के द्वारा यह स्थान कभी भी नहीं विमुक्त—छोड़ा गया।

चौथा नाम आनन्द-कानन का साधारण अर्थ है क्योंकि काशी शिव की प्रियतमा नगरी है और यहाँ पर उनको बड़ा आनन्द मिलता है। अतः आनन्द-कानन। इसे श्मशान या महाश्मशान क्यों कहा जाता है? स्कन्द की व्याख्या है—'श्म' का अर्थ शव है, 'शान' का अर्थ शयन है। अतः जब प्रलय आता है तो सभी महाभूत यहां पर शवरूप में शयन करते हैं, इस लिये इसकी महाश्मशान संज्ञा है। पद्म-पुराण में शिव ने स्वयं कहा है—यह अविमुक्त (काशी) श्मशान के नाम से इस लिये विख्यात है क्योंकि मैं यहीं से इस सम्पूर्ण जगत का संहार करता हूं।

अस्तु, काशी की सबसे बड़ी महिमा बाबा विश्वनाथ का मन्दिर है। विश्वनाथ या विश्वेश्वर तो एक ही है परन्तु अविमुक्तेश्वर और विश्वेश्वर में पुराणों में भेद पाया जाता है। वाचस्पति के मत में अविमुक्तेश्वर-लिङ्ग और विश्वनाथ एक ही हैं। यद्यपि शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों की परम्परा एवं प्रसिद्धि से हम सभी परिचित हैं, परंतु यह अविमुक्तेश्वर ज्योतिर्लिंग सर्वश्रेष्ठ है—दे० काशी-खण्ड २६, ३१—'ज्योतिर्लिंग तदेकं हि ज्ञेयं विश्वेश्वराभिधम्'

इस प्रधान पीठ के अतिरिक्त काशी के अन्य पुण्य-पीठ भी हैं जिनको पञ्चतीर्थों के नाम से पुकारा गया है—म० पु० के अनुसार दशाश्वमेध, लोलार्क (सूर्य-मन्दिर जहां पर द्वादशादित्यों की प्रतिष्ठा है), केशव बिन्दुमाधव तथा मणिकर्णिका। आजकल तो पञ्च-तीर्थों में गङ्गा और असि का सगम दशाश्वमेघ घाट, मणिकर्णिका घाट, पञ्चगंगा घाट और गंगा तथा वरणा का संगम प्रसिद्ध हैं। वाराणसी-तीर्थ-यात्रा में इन प्रधान पीठों के दर्शन के अतिरिक्त 'पञ्चक्रोशी परिक्रमा' का भी बड़ा माहात्म्य है। काशी में कपाल-मोचन घाट भी आजकल प्रसिद्ध हैं। सम्भवतः यह मध्यकालीन परम्परा है।

गया—'त्रिस्थली' के दो स्थल प्रयाग और काशी पर इस संक्षिप्त प्रवचनोपरान्त अब गया पर चलो। पूर्वजों की गया करें। वास्तव में तीर्थ-क्षेत्र एवं मन्दिर-पीठ दोनों की दृष्टि से गया का बड़ा महत्त्व है। प्रत्येक हिन्दू अपने दिवंगत पिता की गया करने का अभिलाषी रहता है। बहुसंख्यक अपना मनोरथ भी सिद्ध करते हैं। गया हिन्दुओं एवं बौद्धों दोनों का ही महातीर्थ है। गया और बुद्ध-गया इन दोनों नामों से हम परिचित हैं। बुद्ध-गया पर हम आगे तीसरे पटल में लिखेंगे। हिन्दू-दृष्टि से गया की संक्षिप्त समीक्षा आवश्यक है।

वायु पुराण का *गया माहात्म्य बड़ा विशद है। गया के इतिहास, पुराण* एवं नाना उपाख्यानों के इतिवृत्तों एवं रूपक-रञ्जनाओं का यह आगार है। गया एक अति प्राचीन स्थान है—इस का प्राचीनतम साहित्य पोषण करता है। 'गय आर्य-संज्ञा है। ऋ० दशम, ६३ १७ *तथा ६४ १७ में—'अमताबि जनो* दिव्यो गयेन'—आया है, अतः यह प्राकृत मर्यादित होता है। अथर्ववेद (१ १४ ४। में गय एक जादूगर के रूप से निर्दिष्ट है। वैदिक संहिताओं के असुर दास, राक्षस आदि अनार्य जादूगर भी थे। अतः बहुत सम्भव है अथर्ववेद का यह जादूगर–'गय' पुराणों का असुर—गयासुर बन गया।

'गयशिरस्' की तथाकथित पौराणिक कल्पना पुराणों से भी प्राचीन है। निरुक्त-कार यास्क ने—'इदम् विष्णुर-विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'—की शाकपूणि की व्याख्या में प्राकृतिक (भू, अन्तरिक्ष तथा द्यौः) संकेत के साथ-साथ और्णवाभ की व्याख्या में समारोहण, विष्णु-पद एवं गयशिरस् का भौगोलिक संकेत भी दिया है। अथच गयशिर' शब्द पर नाना संकेत बौद्ध-ग्रंथों में आये हैं (दे० महावग्ग)। जैन-ग्रंथ (दे० उत्तराध्यान-सूत्र) भी इस शब्द का संकेत प्रस्तुत करते हैं। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' (दे० १२ वा सर्ग) में भगवान् बुद्ध राजर्षि गय की आश्रम-नगरी गये थे—ऐसा वर्णन है। वहां पर (दे० १७ वा सर्ग) गया में स्थित उरुविल्वा नामक काश्यपीय आश्रम पर भी गौतम पधारे ऐसा भी उल्लेख है। विष्णु-धर्मोत्तर (८५ ४०) में विष्णु-पद की महिमा से उसे श्राद्ध का पुण्य-स्थान माना गया है। समारोहण यथानाम किसी 'प्रान्तर' प्रदेश (किसी पहाड़ी के ऊपर समतल भूमि पर स्थित नगर या दुर्ग) से है। *सम्भवतः फल्गू नदी के निकट पहाड़ी से इसका परामर्श है। अतः यह निष्कर्ष* निकाला जा सकता है कि और्णवाभ का यह 'गयशिरस' संकेत गया से ही है। गया की गयशिरस संज्ञा का पौराणिक आख्यान बड़ा ही रोचक है। गयासुर *नामक एक महापराक्रमी असुर था, जिस की ऊंचाई १२५ योजन तथा परीणाह* (मोटाई) ६० योजन था। वह कोलाहल पर्वत पर सहस्रों वर्ष कठिन तपस्या करता रहा। अब देवगण आतङ्कित हो उठे। ब्रह्मा के पास पहुंचे। ब्रह्मा *उनको लेकर शिवधाम पधारे। शिवने कहा विष्णु के पास जाओ।* अब विष्णु सब को साथ लेकर गयासुर के पास आये। विष्णु ने उस की इस महा तपस्या का कारण पूछा और वर मांगने को कहा। गयासुर ने अपनी सर्वतोवरिष्ठा *पुण्यता मांगी। देवो ने 'तथास्तु' कहा* और स्वर्ग चले गये। अब क्या जो

कोई गयासुर के पावन शरीर को छूता वही पुण्यात्मा हो जाता और स्वर्ग पहुचता। बेचारे यम का आधिराज्य समाप्त हुआ, कोई वहा भूलकर भी न जाता। अब यम परेशान हुए—ब्रह्मा के पास पहुच। ब्रह्मा यम को साथ लेकर पुन विष्णु के पास गये और कहा आप गयासुर स यज्ञार्थ उसका पुण्य शरीर माग लें। विष्णु की प्रार्थना गयासुर ने मान ली और धडाम स जमीन पर गिर पडा—शिर कोलाहल पवत के उत्तर म और पैर दक्षिण मे। अब ब्रह्मा ने अपने यज्ञ-सभार जुटाये। परन्तु यज्ञ-कार्य मे ब्रह्मा का एक बाधा दिखाई पडी। गयासुर का शरीर हिल रहा था। ब्रह्मा न यम स उस पर एक शिला रखने को कहा तब भी शरीर का स्पन्दन न रुका। अब ब्रह्मा ने शिवादि देवो से उस पर खडे होने को कहा जिससे उसका हिलना बन्द हो। इस पर भी जब हिलना ना रुका तो बेचारे पितामह पुन पुराण-पुरुष विष्णु के पास गय और कहा गयासुर और उस पर स्थित शिला को हिलन स बचाइये। विष्णु ने अपनी 'मूर्ति' देकर कहा जाओ इस को रख दो हिलना बन्द हो जायगा। परिणाम न निकला। अन्ततोगत्वा विष्णु भी वहा आगये और स्वय जनार्दन, पुण्डरीक तथा आदि गदाधर के रूप म, ब्रह्मा प्रपितामह पितामह, फल्गवीश, केदार और कनकेश्वर के पाच रूपो मे, विनायक गणेश गजरूप मे तथा इसी प्रकार सूर्य, लक्ष्मी, सीता, गौरी (मङ्गला), गायत्री सरस्वती भी सभी अपन अपने नाना रूपो मे उस शरीर पर सवार हो गयी। अब जाकर गयासुर का शरीर स्तब्ध हुआ। गयासुर को अब शिकायत हुई—इस तरह उसे क्यो धोखा दिया गया? जब उसने अपना पुण्य शरीर ब्रह्मा को यज्ञार्थ दे ही दिया था तो विष्णु के वचन-मात्र से ही वह स्तब्ध हो जाता पुन इस सब लाद से क्या प्रयोजन? उस पर भी विष्णु ने अपनी गदा रख दी (आदिगदाधर) देवो ने प्रसन्न हो कर गयासुर से वरदान मागने को कहा तो उसने जो वरदान चुना वही आगे गया-क्षेत्र के माहात्म्य का मूलमन्त्र है। गयासुर न वर मागा—"जब तक पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र तारागण का अस्तित्व है, तब तक ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी ये देव मेरी इस शिला पर बन रहें। यह पवित्र क्षेत्र मेरे नाम से विश्रुत हो। सभी तीर्थ पञ्च-क्रोश-परिमित गया क्षेत्र एव क्रोशैक-परिमित गयशिर-क्षेत्र के मध्य में केन्द्रित रहे। सभी देवगण अव्यक्त (पद-चिन्हादि) अथवा व्यक्त (देव-मूर्ति) रूप मे विरामान रहें। जिन को यहा पर सपिण्ड श्राद्ध दी जावे वे ब्रह्मलोक जावें और ब्रह्म-हत्या आदि जघन्य पाप का भी यहा नाश हो जावे"। देवो को तथास्तु कहना पडा।

गया के पुराणमाख्यानम पर इस सक्षिप्त प्रवचन के उपरान्त गयावाल ब्राह्मणो की दुदशा पर कुछ अश्रुकणो का पात अवश्यक है। ब्रह्मा ने इस महातीर्थ को ब्राह्मणो को दे डाला, यहा पर सब प्रकार के ऐश्वर्य एवं समृद्धिया थी। 'असन्तुष्टा द्विजा नष्टा' जो कहा गया है वह ठीक ही है। यहाँ के ये ब्राह्मण बडे लालची थ। उनका पेट नहीं भरा। उन्होने धर्मारण्य मे धर्मराज के नाम पर बडा यज्ञानुष्ठान किया तथा यज्ञ-दक्षिणा मागी। ब्रह्मा ने जब सुना तो बडे क्रुद्ध हुए और आ कर शाप दे गये और उनका सारा ऐश्वर्य भी ले गये। बेचारे ब्राह्मण विलाप करने लगे तो ब्रह्मा ने कहा अब तुम्हारे लिये यात्रियो क द्वारा प्रदत्त दान-दक्षिण के अतिरिक्त और कोई सहारा नही।

अन्त मे गया के प्रधान उप-तीर्थों का भी स्वल्प सकीर्तन अपेक्षित है। गया-तीर्थों की सख्या काफी बडी है, परन्तु तीन महातीर्थ बहुत प्रशस्त हैं, जिनका दर्शन गया-यात्री के लिये अनिवार्य है। फल्गु नदी का स्नान, विष्णुपद तथा अक्षयवट का दर्शन। विष्णु-पद का मन्दिर सबसे बडा है जो भगवान् विष्णु के पद-चिन्ह पर उत्थित हुआ है। यह एक पहाडी पर है जो फल्गु नदी क पश्चिम पार्श्व म स्थित है। गया मे लगभग ४५ श्राद्ध -वेदिया हैं जिनमे पाच प्रमुख हैं - प्रेत-शिला, राम-शिला, राम-कुण्ड, ब्रह्मान्कुण्ड तथा काक-बलि। पञ्चक्रोशी गया के अतिरिक्त क्रोशैक परिमित गय-शीर्ष के मुण्ड पृष्ठ, प्रभास, गृध्रकूट, नागकूट भी तीर्थ परम पावन माने जाते हैं।

'महाबोधि तरु' हिन्दुओ के लिये भी उतना ही पूज्य है जितना बौद्धो के लिये गया-माहात्म्य का यह सामान्य औदार्य है। उत्तर-मानस तथा मातङ्ग-वापी भी प्रख्यात तीर्थ है।

यह अध्याय अपेक्षाकृत बहुत बडा हो गया। ऐसा प्रतीत होता है, विनायक प्रकुर्वाणों रचयामास वानरम्'। कहा तो हिन्दू प्रासाद की पृष्ठ-भूमियो मे तीर्थ-माहात्म्य की लोक-धर्मिणी सस्था का मूल्याङ्कन करने चले थे वहाँ वह स्वय महा प्रासाद के रूप म इतनी ऊची उठ गयी। वास्तव मे हिन्दू सस्कृति का मर्म यही है जो अणोरणीयान् है वही महतो महीयान् बन जाता है

अस्तु, ग्रन्थ विस्तार-भय से अब यह विवरण सकोच्य है। परन्तु अभी बहुत से तीर्थ एव महातीर्थ तथा क्षेत्र, धाम, मठ छूट गये। भारतवर्ष के प्राचीन धार्मिक इतिहास मे पुण्यनगरियो की अत्यन्त प्राचीन पुण्य-परम्परा है —

अयोध्या मथुरा माया काशी कान्ची ह्यवन्तिका ।
एताः पुण्यतमाः प्रोक्ताः पुरीणामुत्तमोत्तमाः ॥
काशी कान्ती च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि ।
मथुरावन्तिका चैता सप्त पुर्योऽत्र मोक्षदा ॥

धामो मे बदरीनाथ, जगन्नथपुरी, रामेश्वर तथा द्वारका अत्यन्त पावन एव प्रसिद्ध हैं। इन पर स्थित मठो एव मन्दिरो की कुछ विस्तार से समीक्षा हम आगे करेंगे—(दे० तृतीय पटल—प्रासाद-वास्तु के स्मारक)।

यहा पर जगन्नाथपुरी, जो पुरुषोत्तम-क्षेत्र के नाम से प्रख्यात है, उस पर थोडा सा विवेचन प्रासङ्गिक है।

जगन्नाथपुरी उडीसा मे है। उडीसा मे चार प्रधान तीर्थ-क्षेत्र हैं—भुवनेश्वर (चक्रतीर्थ), जगन्नाथ (शख-क्षेत्र), कोणार्क (पद्म-क्षेत्र) तथा जैपुर(गदा-क्षेत्र) पुरुषोत्तम-तीर्थ (जगन्नाथपुरी) पर ब्रह्म-पुराण (दे० अ० ४७-७० लगभग १६०० श्लोक) तथा बृहन्नारदीय (उत्तरार्ध अ० ५२-६१ लगभग ८०० श्लोक) मे बडे विस्तार से वर्णन हैं। उडीसा की दो और सज्ञायें हैं—ओण्ड्र तथा उत्कल। पुराणो की वार्ता है अवन्ती के राजा इन्द्रद्युम्न इस महातीर्थ की गौरव-गाथा सुनकर अपने सैन्य, सेवक, पुरोहितो और स्थपतियो को लेकर यहा पर भगवान् वासुदेव के दर्शनार्थ आ पहुचा। वहा पर भगवान् जगनाथ की इन्द्रनील-मणि-मयी प्रतिमा थी, जोवालुका मे विलुप्त हो लतागुल्म से अदृश्य थी। इन्द्रद्युम्न वहा पर अश्वमेघ यज्ञ किया और एक बडा प्रासाद (मन्दिर) बनवाया और जब उस मन्दिर म प्रतिमा-प्रतिष्ठा का अवसर आया तो रात्रि मे उसे स्वप्न हुआ कि समुद्रवेला पर स्थित वटवृक्ष के निकट प्रातरुत्थाय जाओ और वटवृक्ष काट लाओ। राजा ने वैसा ही किया और वहीं पर उसे दो ब्राह्मण मिले जो वास्तव मे स्वय भगवान् विष्णु और विश्वकर्मा थे। भगवान् ने राजा से कहा कि उन का यह साथी (दूसरा ब्राह्मण) तुम्हारे लिये प्रतिमा बनावेगा। विश्वकर्मा ने इन्द्रद्युम्न के द्वारा निर्मापित प्रासाद मे प्रतिष्ठार्थ कृष्ण, बलराम और सुभद्रा की तीन काष्ठमयी मूर्तिया बनाकर प्रदान की। विष्णु ने राजा को बिना माँगे वर भी दिया कि जिस कुण्ड पर उसने अवभृथ स्नान किया है वह उसके नाम से विख्यात होगा तथा जो आगे के लोग इस मे स्नान करेंगे वे इन्द्रलोक को जायेंगे। अस्तु इस वार्ता से यह ऐतिहासिक निष्कर्ष निकलता है कि पुरुषोत्तम एक प्राचीन स्थान था जो नीलाचल के नाम से विश्रुत था। यहा पर कृष्ण की उपासना मे काष्ठमयी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा से यह परम्परा कुछ विशेष प्राचीन प्रतीत होती हैं।

राजेन्द्रलाल मित्र (See Antiquities of Orissa) का आकूत है—पुरुषोत्तम क्षेत्र को तीन ऐतिहासिक कालो मे विभाजित किया जा सकता है—प्राचीनतम हिन्दू-काल (Hindu period), प्राचीन बौद्ध-काल (Buddhist period) तथा पूर्व-मध्यकालीन वैष्णव-काल (Vaisnava period)। प्राचीनतम हिन्दू काल का कुछ आभास ऊपर की पौराणिक वार्ता मे प्राप्त हो सकता है। बौद्ध काल के बौद्ध-प्रभाव के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञातव्य यह है कि उत्कल(उडीसा) म अशोक के शिला-लेख (दे० धौली की पहाडी), एव खण्डगिरि (जो भुवनेश्वर से पाच मील की दूरी पर है) मे बौद्ध-कालीन गुहा-मन्दिरो के साथ-साथ बौद्ध प्रभाव मे जगन्नाथ की रथ यात्रा (Car- procession) बुद्ध की दन्त-चिन्ह-यात्रा (processon of Buddha's Tooth-relic) का सादृश्य रखता है एव जगन्नाथ-मन्दिर की मूर्ति-त्रय-परम्परा (दो भाइयो के साथ बहन) पर बौद्ध-धर्म के त्रिक्–बुद्ध धर्म एव सघ—का प्रभाव परिलक्षित होता है।

जगन्नाथपुरी का वैष्णव-धर्म उस उदात्त एव सहिष्णु समय का उद्घोष करता है जब शैवो एव वैष्णवो के पारस्परिक सौहार्द्र की सरिता वह निकली थी। जगन्नाथ के प्रासाद प्रधान के अतिरिक्त वहा पर १२० मन्दिर और हैं जिनमे १६ तो शिवालय ही है। सूर्य-मन्दिर भी हैं। हिन्दू-धर्म के प्राय सभी सम्प्रदाय यहा पर प्रतिष्ठित हैं। तभी तो सभी हिन्दुओ का चार धामो मे यह एक अन्यतम धाम है। ब्रह्म-पुराण (५६ ३४-६६ तथा ६९-७०) के निम्न प्रवचन इस दृष्टि से कितने सार्थक हैं —

शैवभागवतानां च वादार्थप्रतिषेधकम्।
अस्मिन् क्षेत्रवरे पुण्ये निर्मले पुरुषोत्तमे।
शिवस्यायतन देव करोमि परमं महत्।
प्रतिष्ठेयं तथा तत्र तव स्थाने च शङ्करम्।
ततो ज्ञास्यन्ति लोकेऽस्मिन्नेकमूर्ती हरीश्वरौ।
प्रत्युवाच जगन्नाथ स पुनस्तं महामुनिम्॥
. . . . . .
नावयोरन्तर किञ्चिदेकभावौ द्विधा कृतौ॥
यो रुद्र. स स्वय विष्णुर्यो विष्णुः स महेश्वरः।

जगन्नाथ इस पावन धाम की कुछ एसी विशिष्टताये है जो अन्यत्र नही। यहा पर छुआछूत का भेद बिलकुल नही। यहा का भात ही पावन प्रसाद है। सभी उसे निस्सकोच स्वीकार करते है। यह 'महाप्रसाद' सुखाकर लोग अपन

अपने घर ले जाते हैं। यहा की रथ-यात्रा सब महोत्सवो की शिरोमणि है। आषाढ शुक्ल द्वितीया मे यह महोत्सव प्रारम्भ होता है। तीनो—कृष्ण सुभद्रा और बलराम—के अपने अपने सच्छन्न रथ चलते हैं जो यात्रियो के द्वारा खीचे जाते हैं। यह यात्रा मन्दिर से प्रारम्भ होती है और जगन्नाथ जी के ग्राम-निवास तक जाती है।

वाराणसी के सदृश जगन्नाथ पुरी मे भी पाच प्रधान तीर्थ है—मार्कण्डेय-सर, कृष्ण-वट, बलराम समुद्र तथा इन्द्रद्युम्न-कुण्डः—

मार्कण्डेय वटं कृष्णं रौहिणेयं महोदधिम।
इन्द्रद्युम्नसरश्चैव पञ्चतीर्थी विधि स्मृत.॥ ब्र० ६०. ११

जगन्नाथ के मन्दिरो पर आगे के पटल मे समीक्षा होगी अत इस धाम की इस पूर्व-पीठिका से हम सन्तोष करें।

द्वादश ज्योतिलिङ्गों—की भी प्राचीन पुण्य-परम्परा से हम परिचित ही हैं। शिवपुराण (१ १८. २१-२४) का प्रवचन है —

पृथिव्यां यानि लिंगानि तेषां सख्या न विद्यते।
सौराष्ट्रे सोमनाथ च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालमोंकारे परमेश्वरम्॥
केदारं हिमवत्पृष्ठे डाकिन्यां भीमशङ्करम।
वाराणस्यां च विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे॥
वैद्यनाथं चिताभूमौ नागेशं दारुकावने।
सेतुबन्धे च रामेशं कृष्णेशं च शिवालये॥
द्वादशैतानि नामानि प्रातरुत्थाय य पठेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वसिद्धिफलं लभेत्॥

हिन्दू धर्म की विभिन्न अवान्तर शाखाओं एव नाना सम्प्रदायो के अनुरूप इस देश मे अगणित पावन क्षेत्र प्रकल्पित हैं। ५१ या १०८ शक्ति-पीठो की प्राचीन परम्परा (देखिये लेखक का 'प्रतिमा-विज्ञान'—इस अध्ययन का चतुर्थ ग्रन्थ) से हम परिचित ही हैं। 'बार्हस्पत्य सूत्र' (पृ० ११६-१२६) वैष्णवो शैवो एव शाक्तो के आठ आठ पावन क्षेत्रो का निर्देश है, जिनका अवतरण विशेष आवश्यक नही।

परन्तु अगणित तीर्थों की तालिका अब यहा नही लाई जा सकती है। अन्त

में औपोद्घातिक उस महातथ्य वा माहात्म्य स्मरणीय है कि भारतवर्ष का समस्त प्रदेश ही पावन है। तीर्थ-भूमि वास्तव में सत्य-भूमि तपो-भूमि, अध्ययनाध्यापन-भूमि, यज्ञ-भूमि—धर्म-भूमि है। पद्म-पुराण (द्वि० ३६ ५६-६१) का प्रवचन है – 'जहाँ अग्निहोत्र एवं श्राद्ध की जाती है, जहा देवतायतन स्थित है, जिस घर मे वेद-पाठ होता है, जहा गौवें रहती हैं, सोमपायी जहा निवास करते हैं, जिस स्थल पर पर अश्वत्थ उगा है, जहा पुराण का पारायण होता है, जहा अपना गुरु रहता है, जहा सती रहती है अथवा पिता और उसका लायक लडका रहता है —वे सभी तीर्थ-भूमिया हैं।"

अस्तु हमने अपने—'हिन्दू प्रासाद'—Hindu Tepmle मे लगभग २२०० तीर्थों की तालिका प्रस्तुत की है, वह वही पाठनीय है। अन्त मे इतना ही पर्याप्त है कि भगवान् वायु (दे० वायु-पुराण) का कथन है कि तीर्थों की सख्या साढे तीन करोड है। अतः तीर्थ-माहात्म्य ही ने हिन्दू प्रासाद का यह प्रोल्लास प्रदान किया है।



मूल-सिद्धान्त

प्रासाद-निवेश

प्रासाद-स्थापत्य का शास्त्रीय विवेचन

प्रासाद का अर्थ—अमरकोष मे प्रासाद की परिभाषा वास्तव मे पारिभाषिक नही—"प्रासादो देवभूभुजाम्"—अर्थात् प्रासाद अर्थात् महल या मन्दिर राजाओ एव देवो दोनो के लिये सज्ञापित है—यह परिभाषा एक प्रकार से साधारण है, जो काव्यो, नाटको एव अन्य ग्रन्थो मे मिलती है।

प्रासाद शब्द की व्युत्पत्ति ही इस परिभाषा को काट देती है—' सदन साद अर्थात् इष्टिकाओ अथवा शिलाओ का सादन, वैदिक चिति का प्रारम्भ करती है। प्रकर्षेण सदन सादन वा यस्मिन् स प्रासाद प्रकर्ष का अर्थ यहा पर मन्त्रादि-नाना उपचार-पुरस्सर अभिषेक आदि एव परीक्षणादि मत्र-पूत इष्टिकाओ एव शिलाओं के निवेश से वैदिक याग का श्रीगणेश सर्वप्रथम चिति से प्रारम्भ होना है। चिति से ही आगे चैत्य बना जो नरावास नही थे। चैत्य भी बौद्धो के लिये उतने ही पूज्य एव उपास्य बने जैसे आगे चलकर ब्राह्मणो के लिये मन्दिर।

वैदिक चिति या यज्ञ-वेदी हिन्दू प्रासाद की जननी बनी। जिस प्रकार यज्ञ को नारायण (यज्ञ-नारायण) के रूप मे प्रकल्पित किया गया, उसी प्रकार प्रासाद को पुरुष (विराट-पुरुष) के रूप मे प्रकल्पित किया गया। निम्नलिखित उद्धरणो से पाठको को बहुत कुछ प्रासाद शब्द की सच्ची व्युत्पत्ति तथा उसका अभिधेयार्थ—सत्यत· बोधगम्य बन सकेगा। पुराणो मे अग्निपुराण का, तत्रो मे हयशीर्ष-पचरात्र का, शिल्पग्रथो मे समरागण-सूत्रधार एव शिल्प-रत्न का तथा प्रतिष्ठा-ग्रथो मे ईशानशिवगुरुदेव-पद्धति आदि के जो पुष्ट प्रवचन उद्धृत किये गये हैं वे निम्न पठनीय हैं—

'प्रासादं वासुदेवस्य मूर्तिभेदं निबोध मे।
धारणाद्धरणीं विद्धि आकाशं शुषिरात्मकम् ।।
तेजस्तत पावकं विद्धि वायुं स्पर्शगत तथा।
पाषाणादिष्वेवं जलं पार्थिव पृथिवीगुणम् ।।
प्रतिशब्दोद्भवं शब्द स्पर्शं स्यात् कर्कशादिकम् '
शुक्लादिकं भवेद्रूपं रसमन्नादिदर्शनम् ।।
धूपादिगन्धं गन्धन्तु वाग्भेर्यादिषु संस्थिता ।
शुकनासश्रिता नासा बाहू तद्रथकौ स्मृतौ ।।

शिरस्त्वण्डं निगदित कलस मूर्द्धज स्मृतम् ।
कण्ठ कण्ठमिति ज्ञेयं स्कन्ध वेदी निगद्यते ॥
पायूपस्थे प्रणाले तु त्वक् सुधा परिकीर्तिता ।
मुख द्वार भवेदस्य प्रतिमा जीव उच्यते ॥
तच्छक्ति पिण्डिका विद्धि प्रकृतिञ्च तदाकृतिम् ।
निश्चलत्वञ्च गर्भोऽस्या अधिष्ठाता तु केशव ॥
एवमेप हरि साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थित
जघा त्वस्य शिवो ज्ञेय स्कन्धे धाता व्यवस्थित ॥
ऊर्ध्व भागे स्थितो विष्णुरेव तस्य स्थितस्य हि ।
सर्व तत्वमयी यस्मात् प्रासादो भास्करी तनु ।
तद यथावस्थित कथयामि निबोधत ।
पायूपस्थौ प्रणाली द्वौ नेत्रौ ज्ञयौ गवाक्षकौ ।
सुधा भुग्न (—?) पिनीज्ञेयास (व) क्षा मञ्जरीकोर्ध्व त ।
ज घा-ज घा तु विज्ञेया वरण्डी वसना मता ।
शुकाग्रातु भवेन्नासा सूत्राणि विशेषत ।
गर्भ स्थिरत्वे विज्ञेयो मुख द्वार प्रकीर्तित ।
कपाटौष्टपुटौ ज्ञेयौ प्रतिमा जीवमुच्यते ।
स्कन्धस्तु वेदी गदिता कण्ठ कण्ठमिहोच्यते ।
शिरोमालास्थित ज्ञेय— ——चून संस्थित ।
एवमेप रवि साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थित ॥
जगती पिण्डिका ज्ञेया प्रासादो भास्कर स्मृत ।
प्रासाद पुरुष मत्वा पूजयेन्मन्त्रवित्तम ।
प्रपद पादक विद्याच्छिखा स्तूपीति कथ्यते ।
लोहकीलकपत्रादि सर्व दन्त नखादिकम् ।
सुधा शुल्क त्विष्टिकौघमस्थि मज्जा च पीतरुक ।
मेद श्यामरूचिस्तद्वद् रक्त रक्त रुचिस्तथा ॥
मास मेचकवर्ण स्याच्चर्म नील न सशय ।
त्वक् कृष्णवर्णा मित्यत्याहु प्रासादे सप्तधातव ।
प्रासाद लिंगमित्याहु स्त्रिजगल्लयनाद यत ।
ततस्तदाधारतया जगती पीठिका मता ॥
प्रासादे यच्छिवशक्त्यात्मक तच्छक्त्यन्ते स्वाद् वसुधाधैस्तु तत्वै ।
द्यवी मूर्ति खलु देवालयाख्येत्यस्माद् ध्येया प्रथम चाभिपूज्या ॥

ये सब इस नवीन उन्मेष को सार्थक एवं समर्थित करते हैं।

प्रासाद स्थापत्य पर बहुत से योरोपीय तथा भारतीय विद्वानों ने कलम चलाई है। प्रासाद अर्थात् देव मन्दिर अर्थात् (Hindu temple) के आविर्भाव के सम्बन्ध में नाना प्रकार के अनुमान इन लोगों ने लगाये हैं। प्रासाद के जन्म को कई लोगों ने Mound Theory, Umbrella Theory या Stupa Theory कहा है वे पूर्व निर्दिष्ट उद्धरणों से निर्थक सिद्ध हो जाता है।

सत्य यह है कि आधुनिक विद्वानों और लेखकों ने यह नहीं समझा कि हमारी सारी कला क्या काव्य, क्या नृत्य या नाटक क्या सगीत क्या आलेख्य साथ ही साथ वास्तु और शिल्प भी—ये सभी कलाएं दर्शन की ज्योति से ही अनुप्राणित हैं। दर्शन-विहीन भारतीय कला स्थाणु के समान निष्प्रभ अथवा शुष्क ही है। इस में सन्देह नहीं के विश्व के सभी साहित्यकारों तथा कलाकारों ने किसी भी काव्य, साहित्य अथवा कला को आनन्द-रहित नहीं माना, परन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण में आनन्द के सम्बन्ध में महान् अन्तर है। भारत के इस सिद्धान्त में ब्रह्मानन्द-सहोदर रस की परिभाषा दी गई है, और –रसो वै स—वैदिक दर्शन देन है। इसी लिये हमारे मनीषियों ने और ऋषियों ने इस शब्द-ब्रह्म, नाद-ब्रह्म का साक्षात्कार कर इन कलाओं में भी ब्रह्म को स्थापित किया है। वास्तु-पण्डित तथा शिल्प-कोविद् भी पीछे नहीं रहे। शिल्पाचार्यों ने भी वास्तु-ब्रह्म की भी केवल कोरी कल्पना ही नहीं की वरन् पाषाण, इष्टिका एवं मृत्तिका के पुञ्जी-भूत रूप को अर्थात् साकार रूप को निराकार में परिणत कर दिया है। इस अध्ययन में हम प्रासाद के प्रमुख अंगों एवं उपांगों का वर्णन करेंगे, जिसमें हमारी यह धारणा पूर्ण पुष्टि को प्राप्त करेगी।

प्रासाद-स्थापत्य तथा राज-प्रासाद-स्थापत्य (Temple architecture & Palace-architecture —इस उपोद्घात के अनन्तर इस मूलभूत अवधारणा के विपरीत दिशा में जाते हुये भी हमें कुछ तर्क-युक्त व्याख्या करनी है। यह मेरा अध्ययन केवल समरांगण सूत्रधार पर आधारित है। समरांगण-सूत्रधार में राज-भवन को राज प्रासाद के नाम से नहीं पुकारा गया है। राज-निवेश अथवा राज-गृह के नाम से दो अध्यायों में राज-भवनों का वर्णन किया गया है, तो फिर इस भाग में देव-प्रासाद के साथ राज-भवनों को कैसे एकत्र लाया जा सकता है? इस का उत्तर इतिहास देता है, जिस पर आज तक किसी विद्वान् ने न सोचा न लिखा। हमारी प्राचीन परम्परा थी कि जनावासों में अर्थात् साधारण जनों के घरों में जहां तक दीवार और सम्भों की रचना का

सम्बन्ध है वह कभी भी पाषाण अथवा शिला अथवा पक्की ईंट से नहीं बनाना चाहिये। निम्न उद्धरण पढ़िए —

शिलाकुड्य शिलास्तम्भं नरावासे न योजयेत—कामिकागम

यह परम्परा अति प्राचीन थी। अतएव प्राचीन काव्य ग्रन्थों जैसे रामायण आदि तथा सूत्र-ग्रन्थों में साथ ही साथ इतिहास-ग्रन्थों में देव-कुल, देवागार, धिष्ण्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ, क्योंकि देव-स्थान इन्हीं जनावासों में एक पृथक् एकान्त स्थान में बनाये जाते थे। कालान्तर पाकर महाराजा, अधिराजों, सामन्तों, श्रेष्ठियों, धनियों मानियों एवं दानियों के द्वारा मन्दिर निर्माण का श्रीगणेश हुआ। मन्दिर की परिभाषा विश्व-कर्मा वास्तु शास्त्र में पाषाण निर्मित भवन देव-भवन के लिये दी गई है। तभी से ये प्रासाद बनने प्रारम्भ हुये हैं। अस्तु शनैः शनैः देवों के लिये पाषाण विनिर्मित आलय बनने लगे, जो मन्दिर कहलाए। इस रचना में पहिली श्रेणी चिति के रूप में पुनः पट्टिकामयी (Dolemen) रचना में, उस के अनन्तर छाद्य एवं मण्डपाकार देव-भवन उदित होने लगे—यह सब मौलिक भित्ति (शास्त्रीय सिद्धान्तों) पर आधारित भारतीय प्रासाद-स्थापत्य (Temple-architecture) पर आगे विवेचन करेंगे।

जहां तक मध्यकालीन प्रासाद स्थापत्य वैभव सम्पन्न हुआ—जैसे शिखर मय, स्तूपिका मय, भौमिक साधार, निरन्धार बहुशृंगिक अनेकाण्डक, पंचायतन पुरस्सर—वे सब वास्तव में प्रासाद-परिभाषानुगत स्थापत्य कला के निदर्शन हैं—यह सब तत्रैव पठनीय है।

भारतीय स्थापत्य के इतिहास में लयन प्रासादों, जिनको हम आधुनिक भाषा में गुहा-मन्दिर Cave Temples कहते हैं, वे कितने प्राचीन हैं यह सब हम जानते ही हैं। समरांगण-सूत्रधार में इन प्रासादों की पारिभाषिक संज्ञा 'लयन' अथवा 'गुहाधर' अथवा 'गुहराज' के नाम से दी गई है। मेरी दृष्टि में शिलामय प्रासादों का विकास दो हजार वर्ष से अधिक नहीं माना जा सकता। पुरातत्त्वीय अन्वेषणों अनुसन्धानों तथा नाना शिला लेखों एवं अनेक अन्य सम्भारों से यह भी पूर्ण परिचय प्राप्त होता है कि लगभग तीन हजार वर्ष पहले दारूज अथवा दारव(Wooden temples), मार्तिक एवं पट्टिश अर्थात् (mud-temples and cloth-or-material Temples) प्रासादों की भी परम्परा थी। समरांगण-सूत्रधार अध्याय ५६ वे —*परिमार्जित ७१ वे —में हर्म्य वेणुक पट्टिश* तथा विभव एवं तारागण आदि नामों से इनकी संज्ञा उपश्लोकित की गई

है। इन थोडे से उदाहरणो के द्वारा प्रासाद स्थापत्य का यह ऐतिहासिक तथ्य —कि सर्वप्रथम वस्त्रमय, मृण्मय, तदनन्तर काष्ठमय और अन्त मे पाषाणमय पल्लवित, विकसित एव प्रवृद्ध हुए। यह सब द्वितीय खण्ड अनुवाद मे पठनीय है। जहा तक सिखरोतम प्रासादो एव भौमिक विमानो का प्रश्न है उनकी समीक्षा हम इस अध्ययन से पृथक् करेंगे। परन्तु प्रासाद वास्तु के जन्म एव विकास मे जहा वैदिक चिति (यज्ञवेदी) ने मूल प्रेरणा प्रदान की है, वहा लौकिक परम्परा ने भी एक महान् योगदान दिया। आरण्यक पूजा-गृहो ने प्रासाद-वास्तु की विच्छित्तिया, शोभाओ तथा अलकरणो मे सत्यनारायण-कथा-मडप (Tabernacle) विशेष उल्लेखनीय हैं। अरण्य-वासी ईश्वराराधन मे जगल की नाना लताओ विशेषकर वेणु-पल्लवा, उनकी यष्टिकाओ एव लगुडो से मडप निर्माण करते थे तथा पल्लवा की झालरो से सजाते थे पुन नाना उपचारो से उस मडप म प्रतिमा प्रकल्पित कर उस की पूजा करते थे। इन्ही झालरो को बन्दनवार के नाम म हम आजकल भी पुकारते हैं। किसी मध्य-कालीन प्रासाद अथवा विमान के मध्य कलवर को देखें तो उनके मुख-द्वार तोरणो, सिहकर्णो वितानो लुमाओ आदि मे शोभागार प्रतीत होते हैं। इनकी मूल-भित्ति मे ही आरण्यक वन्दनवार-विच्छित्तिया है। शिल्पि-ग्रन्थो म द्वारो की शाखाओ के विशाख द्वारो से लेकर नव शाखद्वारो के वणन मिलते हैं और वे हूबहू इन स्थापत्य निदर्शनो मे भी प्राप्त होते हैं। यह सब विवरण विशेष कर मध्य कालीन शिल्प ग्रन्थो मे भरे पडे है।

इस थोडी सी व्याख्या के द्वारा प्रासाद-स्थापत्य के उपोद्घात मे हमने राज-प्रासाद एव देव प्रासाद के विरोधाभास की ओर जो सकेत किया था उसका परिमार्जन यही ऐतिहासिक तथ्य निराकरण कर देता है। जब देवो के आलयो मे शिलाओ एव पाषाणो का प्रयोग प्रारम्भ हुआ तो उपर्युक्त पौराणिक एवं आगमिक आदेश शैथिल्य को प्राप्त हो गया और इसका सब से पहले लाभ राजाओ ने उठाया। उस का कारण यह था कि प्रासाद-राज अर्थात् प्रासाद-प्रतिष्ठित देव राज (Spiritual and temporal authority) के दोनो रूपों मे जब प्रविकल्पित किये गये तो (Temporal authority) राजाओ मे तो सनातन से हमारे देश में निहित थी ही। जिस प्रकार से ईशान, चन्द्र, वरुण, कुबेर आदि लोकपाल दिक्पाल प्रकल्पित किए गये तो उसी प्रकार राजा भी एक प्रकार से पाचवा लोकपाल परिकल्पित किया गया। ग्यारहवीं शताब्दी का अधिकृत वास्तु-ग्रन्थ समराङ्गण-सूत्रधार भी इसी तथ्य का समर्थन एव पोषण करता है,—

पञ्चमो लोकपालाना राजाधिकतमो मतः

अतएव मेरे लिए एक समस्या उपस्थित हुई कि समराङ्गण-सूत्रधार के इस परिमार्जित संस्करण में (तीन खण्ड—भवन, प्रासाद एवं चित्र यन्त्रादि) में राज-निवेश एवं राजगृह को कहां रक्खें। अत: बाध्य हो कर प्रासाद स्थापत्य में शास्त्र-दृष्टि से राजहर्म्य अर्थात् राज प्रासाद-स्थापत्य को एक साथ नहीं ला सका।

विद्वानों में ऐकमत्य नहीं कि मन्दिर शिल्प राज-भवन का अग्रज है अथवा अनुज है। इस पर हम कुछ प्रकाश राज-निवेश एवं राजसी कलायें—शीर्षक पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थ में कर ही चुके हैं। यहां पर इतना ही निर्देश करना पर्याप्त है कि राज-भवन के अग्रज शिल्प दृष्टि से देव-प्रासाद हैं। तथापि राज-भवन विन्यास में तीन मिश्रण प्राप्त होते हैं प्रासादवास्तु जैसे शृंग एवं शिखरादि, भवन-स्थापत्य अर्थात् शालाओं एवं अलिन्दों का बहुल-विन्यास तथा मौलिक आवश्यकतानुरूप रक्षा-व्यवस्था-द्वार-महाद्वार-प्रतोली-परिखा-वप्र-अट्टालक आदि विन्यासों के साथ नाना राजकीय निवेश एवं राजोचित उपकरण—सभा, गजशाला, अश्वशाला, क्रीडागारादि—ये सब राज प्रासाद के समीक्षण में प्रस्तुत किये जा चुके हैं—देखिये राज-निवेश एवं राजसी कलायें—स० सू० भाग द्वितीय। हम अपनी दृष्टि आदान-प्रदान से तिरोहित नहीं कर सकते। अतएव वह युग, जब प्रासाद निर्माण का चरमोत्कर्ष काल था, तब वैदिक इष्टि का ह्रास हो चुका था और पौराणिक पूर्त-धर्म ने दक्षिण से उत्तर, पूर्व से पश्चिम सर्वत्र इस महादेश में अपनी ध्वजा फहरा दी। पूर्त-धर्म का सर्वप्रमुख अङ्ग देवालय-निर्माण ही था। देवालय निर्माण की व्यवस्था में वापी, कूप, तडाग एवं आरामादि का सन्निवेश भी एक प्रकार से अनिवार्य अंग हो गया था। अतएव दक्षिण भारत के विमान-प्रासादों के दर्शन करें वहां ये सब सम्भार एवं विन्यास प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं।

प्रासाद शैलियां—भारतीय प्रासाद-स्थापत्य को विद्वानों (पूर्व सूरियों ने) द्राविड, नागर और वेसर में विभाजित किया है। परन्तु जहां तक द्राविड का सम्बन्ध है, वह भौगोलिक विभाजन अवश्य संगत है, परन्तु नागर और वेसर भूगोलानुरूप संगत नहीं। पुराणों में (देखिये नागर खण्ड) नागर पूरे उत्तर भारत का प्रतिनिधित्व नहीं करता। हमने अपने अनुसन्धान से नागर शब्द की परिभाषा में, समरांगण के अनुसार, नागर के अर्थ को समझने का यत्न किया है। यह नागर शब्द, नगर एवं नग अर्थात् पर्वत से विकसित हुआ है। साथ ही साथ वात्स्यायन के कामसूत्र से भी जो नागर अर्थात् शिष्ट समाज अथवा व्यक्ति (cultured society or citizen) पर संकेत मिलता है (देखिये

चतुष्पष्टि कलाओ का नागरिको क द्वारा सेवन) इन तीनो को ही लेकर समरा ङ्गण सूत्रधार मे प्रासादो के विकास पर प्रवचन प्राप्त होते हैं वे ही इस तथ्य के पुष्ट प्रमाण हैं।

'नगराणामलङ्करहेतवे समकल्पयत'।

जहा तक वेसर का सम्बन्ध है उसे भौगोलिक मानना बिल्कुल भ्रान्त है। मानसार मे नागर, वेसर और द्राविड की जो निम्न परिभाषा दी गई है वह भी भ्रान्त है—

नागरं चतुरश्र स्यादष्टाश्र द्राविड तथा
वृत्त च वेसर प्रोक्त .... ॥

उत्तर भारत मे नाना प्रासादो की आकृतिया नाना हैं वे एकमात्र चतुरश्र नही हैं। बहुत से गोल हैं। इसी प्रकार दक्षिण भारत मे अनेक प्रासाद चौकोर है क्या वे सब अठकोण हैं। बडे अध्यवसाय, अनुसधान एव चिन्तन के वाद हमने वेसर का जो अर्थ निकाला है वह वास्तव मे अब विद्वानो की समझ मे आ सकेगा। चू कि बहुत से लेखको ने वेसर को सस्कृत का तत्सम शब्द माना है और वेसर का अर्थ है सस्कृत मे खच्चर और दूसरा नासिका-भूषण जो गोल होता है। अतएव किसी न इस का अर्थ मिश्रित शैली माना अथवा इस शैली के प्रासादो को गोल माना है।

आकारानुरूप वेसर प्रासादो को हम इस प्रकार की समीक्षा पर ला सकते हैं— द्वि+अस्र-द्वयस्र वेसर—इस प्रकार से यह शब्द तत्सम न होकर तद्भव है।

अब रही वावाट, भूमिज और लाट आदि शैलिया—इनमे लाट स सम्बन्ध गुजराती शैली से है—लाट का अर्थ गुजरात है। तथापि यह शैली नागर शैली मे ही विकसित हुई। इसकी सर्व-प्रमुख विशेषता अलंकृति है जो सोमनाथ के मूल मन्दिर से सर्वथा पुष्ट होती है। वावाट भी मेरी दृष्टि मे वसर के समान ही तद्भव है। यह पद 'वावाट' वैराट का अपभ्रंश है। वैराटी द्राविडी शैली का ही अवान्तर विकास है। मैसूर के मन्दिर इन वैराटी शैली के समर्थक एवं निदर्शन हैं। रही भूमिज की बात यह पद बडा ही सन्दिग्ध सा प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि मे आसाम और बगाल मे पूर्वोत्तर मध्यकाल मे भौम राजा राज्य करते थे। इन भूमिज प्रासादो मे समराङ्गण की दिशा मे अष्टशाल प्रासादो का वर्णन है जिनमे वृक्ष-जातीय प्रासादो का विशे अनुगम प्रतीत होता है। साथ ही साथ इनमें रेखा-वर्तना भी स्थापत्य-कौशल का एक प्रमुख अग माना गया है। अत भौम राजाओ के काल में ही इन भूमिज प्रासादो का उदय हुआ। पूर्वीय प्रदेशो के निवासी ब्राह्मणो को भूमिहार-ब्राह्मणो की सज्ञा मे आज भी

उपस्तोकित किया जाता है। अतएव मेरा यह आकूत विद्वानो की दृष्टि में अवश्य कुछ अर्थ रख सकेगा।

जहा तक द्राविड शैली का सम्बन्ध है उनकी निवेश-व्यवस्था का पहले ही सकेत कर चुके हैं जो एक प्रकार से मन्दिर-नगर (Temple cities) में परिणत हो गये हैं क्योंकि प्राकार, गोपुर, शालायें, परिवार, मडप, (शतमडप, सहस्र-मडप, नाट्य-मडप) यात्रियो के, सन्यासियो के, परिव्राजिको के, दर्शनार्थियो के लिये नाना शालाए निवासालय के अनिवार्य अग माने गये हैं। अतएव उत्तर भारत के मन्दिरो और दक्षिण के मन्दिरो में बडा अन्तर है जो स्मारक-निदर्शन से पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकेगा यह सब भाग विस्तारणीय होगा।

प्रासाद निवेश एव प्रासाद विन्यास—प्रासाद-निवेश एक-मात्र भवन-निवेश नहीं है। प्रासाद के मूलाधारो पर पीछे कुछ प्रकाश डाला गया ही है। प्रासाद' पद की जो व्याख्या एव समीक्षा की गई है उससे स्पष्ट यह सिद्ध है कि प्रसाद निवेश एक मात्र भवन-निवेश नहीं है। प्रासाद को हमने निराकार ब्रह्म का साकार स्वरूप प्रतिपादित किया है। हमने यह भी कुछ इगित किया ही है—जिस प्रकार मन्दिर म प्रतिष्ठापित देवता पूज्य है, उसी प्रकार प्रासाद भी पूज्य है। प्रासादो की जो दो विशिष्ट निमितियो पर हमने सकेत किया है—निरन्धार तथा सान्धार अर्थात् एक प्रकार के वे मन्दिर या प्रासाद जो केवल एक-भवन (One shrine) के रूप म ग्रामे ग्रामे बने हुये शिवालय प्राप्त होते है, वे निरन्धार अर्थात् बिना प्रदक्षिणापथ के रूप म विभावित होते हैं। दूसरी कोटि मे आते हैं सान्धार अर्थात् अन्धारिका अथवा अन्ध-कारिका या भ्रमन्ती या प्रदक्षिणा पथ के सहित गर्भ-ग्रह वाले प्रासाद-मन्दिर ie' the main shrine with circum-ambulatory passage यत न केवल प्रासाद मे प्रतिष्ठापित देव-प्रतिमा ही पूज्य है वरन् प्रासाद-गर्भ मूल-भवन भी पूज्य है। अतएव प्रासाद भी पूज्य एव प्रदक्षिणा के योग्य है। प्रासाद की व्युत्पत्ति के प्रथम स्तम्भ मे जो अनेक उद्धरण हयशीर्ष-पचरात्र, अग्नि पुराण, समरागण-सूत्रधार तथा ईशान-शिवदेवगुरु पद्धति आदि से प्रस्तुत किये है, वे पूर्ण रूप से प्रासाद पद की कितनी ब्रह्म के समान व्यापकता विराट् पुरुष के समान विशालता एव देवत्व का पुञ्जीभूत मूर्तरूप, स्वर्गारोहण का परम सोपान, मानव एव देव का मिलन-बिन्दु,—अध्यात्म का परम निष्यन्द—ब्रह्माण्ड एव अण्ड, जगत एव जीव macrocosm and microcosm का तादात्म्य सभी इस प्रासाद प्रतिमा मे प्रत्यक्ष दीप्यमान, आभासित एव प्रत्यवसित

प्रतीत होता है। अतएव इस प्रकरण मे प्रासाद निवेश के कुछ विशेष अगो जैसे उद्देश्य, कर्तृकारक व्यवस्था, आकार-व्यस्था, भूषा व्यवस्था प्रतीक-कल्पना, उपचार विनियोग, प्रतिमा प्रतिष्ठा आदि पर समीक्षा अभिप्रेत है। तदनुकूल अब हम इस स्तम्भ को स्वल्प व्याख्या मे ही सम्पन्न करना चाहते है। विशेष विवरण मेरे ग्रन्थ Vastusastra vol I—Hindu science of Architecture मे द्रष्टव्य है।

प्रासाद-निवेश—प्रासाद यथापूर्व-निर्दिष्टि एवं प्रतिपादित वास्तु दृष्टि से भी एक महान् तथ्य की ओर इगित करता है। भारतीय स्थापत्य मे छन्द सिद्धन्त बडा ही महत्वपूर्ण है। भवन का आकार ही भवन का मर्म प्रतिपादित करता है। *भारतीय वास्तु-शास्त्र मे छन्दो की सख्या* वैसे तो ६ दी गई है—मेरु, खण्ड-मेरु, पताका, सूची, उद्दिष्ट एव नष्ट। जहा तक प्रथम चार की वात है वे तो छन्द ही हैं परन्तु अन्तिम दोनो छन्द तो नही केवल भवन विन्यास के प्रस्तर घटक हैं। इन दोनो की उपादेयता पर हम अपने भवन-निवेश मे काफी प्रकाश डाल चुके हैं। अब रही इन मेरु आदि चार छन्दो की वात उन पर भी हमने यथानिर्दिष्ट उपर्युक्त अग्रेजी ग्रन्थ मे भी काफी निवेचन किया है। यहा पर हमारा तात्पर्य प्रासाद के वास्तवाकार से है। भारतीय स्थपतियो ने मन्दिर के आकार को पीठ या जगती मे प्रारम्भ कर आमलक में क्यो प्रत्यवसायित कर दिया है। यह सब एक प्रकार की रचना नही है। यह मूर्त एव अमूर्त, जगत एव ब्रह्म, जीव एव ईश्वर को एक ही आधार पर लान की चेष्टा की है। वैसे तो प्रासाद अर्थात मन्दिर देव-स्थान, देवावास, देवकुल है, परन्तु वास्तव मे दार्शनिक दृष्टि से यह आकार निराकार ब्रह्म का साकार रूप है। हम ने पीछे के अवतरणो से यह सार सर्वथा परिपुष्ट कर कर ही दिया है। अतएव विशेष विवरणो की आवश्यकता नही। मन्दिर की आकृति अथात् आकार प्रकृति है? पुनश्च प्रासाद का मूर्धन्य शिरोभूषण आमलक है. जो नागर प्रासादों की विशिष्ट अभिख्या है वह भी यह इसी मर्म का प्रतिपादन करता है। उसी प्रकार द्राविड प्रासादो की जो मूर्धाभूषण स्तूपिका स्थूपिका' है वह भी यह निदर्शन प्रस्तुत करता है। स्तूपिका इस प्रकार से ब्रह्मरन्ध्र है। आमलक को समरागण-सूत्रधार ने आमलसारक की सज्ञा मे भी व्यवहृत किया है। आमलक—वृक्ष आवला के सम्बन्ध मे हमारे पुराण-ग्रन्थो मे वडी महिमा बखानी गयी है। स्कन्द पुराण (देव का० १२-६-२३) का प्रवचन है कि आमलक-वृक्ष

व मूल म भगवान विष्णु बैठे हैं ब्रह्मा ऊपर और शिव उससे भी ऊपर, सूर्य शाखाओं म तथा अन्य देव पत्रो पुष्पो फलो मे निवास कर रहे है। इस प्रकार यह आमलक सर्व-देव निकेतन सर्व-देवावास, पूर्ण-देवत्व-प्रतीक प्रतिपादित स्वत हो जाता है। इस प्रकार प्रासाद[1] के आकार की एक ही आकृति को लेकर उसकी गहनता अपने आप सिद्ध हो गयी। इसी प्रकार वास्तु-शिल्प-ग्रन्थो म विशेष कर समराङ्गण-सूत्रधार म अन्य नाना पद भी भरे पडे हैं जैसे शिखर, अघ्रि चरण पाद जघा, कटि स्कन्ध, शिखर, मस्तक, ग्रीवा, शिखर, कलश अण्ड, कोष आदि आदि वे भी इसी प्रासाद निवेश विराट्-पुरुष-निवेश का पूर्ण समर्थन करते है तथा Organic Theory का भी पूर्ण प्रामाण्य उपस्थित करते हैं।

उद्देश्य —मूलाधार मे हमने प्रासाद-निवेश के नाना प्रयोजनो एव प्रयोज्यो पर प्रकाश डाल ही चुके हैं। यहा पर इतना ही सूच्य है कि हमारे देश म देवराज्य की स्थापना ही सर्व-मौलिमालायमान उद्देश्य था। वैसे तो वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था म ब्राह्मण लोग बडे ब्रह्मज्ञानी थे, आश्रमो मे सन्यास ही एक-मात्र योग ध्यानादि का ही ओड था परन्तु जनता-जनार्दन की कैसे उपेक्षा की जा सकती थी? विशाल जन समाज अज्ञ ही थे, सभी लोग ज्ञानी, तत्वज्ञानी, ब्रह्मविद् तो नही थे। अतएव

अज्ञाना भावनार्थाय प्रतिमा परिकल्पिता॰

जब प्रतिमाओं की पूजा, उन की उपचारात्मक चर्या अनिवार्य थी तो उनकी प्रतिष्ठा के लिये, उनके राजत्व, आधिराज्यत्व एव राजोचित विशाल भवनो के समान ऊची शिखरावलियो से विभूषित, नाना अलकृतिया एव निकेतनो से उल्लसित विमानाकार प्रासादो की आवश्यकता अनुभव होने लगी। पुनश्च जिस प्रकार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था तथा चातुराश्रम्य-व्यवस्था प्रकल्पित हो गयी तो चातुर्वर्ग्य व्यवस्था भी बनी। चातुर्वर्ग्य से तात्पर्य धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष से है। अत प्रथम एव अन्तिम इन दोनो वर्गो—धर्म एव मोक्ष के सोपान के लिये जनता की तृष्णा उसकी धार्मिक चेतना एव मोक्षाभिलाषा के लिये प्रतिमा पूजा, प्रासाद प्रतिष्ठा के अतिरिक्त और कौन सा उपाय इस देश म सोचा जा सकता था। जब इष्टि—यज्ञ के प्रति बाह्य एव आभ्यन्तर दो विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ हो चुके थे अर्थात् बाह्य से तात्पर्य बौद्ध एव जैन धर्म पुन आभ्यतर से तात्पर्य आरण्यको एव उपनिषदो की विचार धारा से है। आरण्यको म यज्ञ एक-मात्र प्रतीक रह गये, उपनिषदो ने तो देव वाद, यज्ञ संस्था आदि को चन्द्र-हस्त देकर आत्मा एव परमात्मा मे पर्यवसानित कर

दिया। ऐसे सम्रान्ति-युग मे महती शान्ति की आवश्यकता हुई। ऐसे समय पर भगवान् वेद-व्यास ने एक नया युग प्रारम्भ कर दिया। जो यथानाम वेदों के परम निष्णात विद्वान् उपदेशक थे, जो ब्रह्म-सूत्र के प्रख्यात रचयिता थे, उन्होंने जनता के हेतु अष्टादश पुराणो की रचना की। ऐसे समय मे भगवान् वेदव्यास को विघ्नकीर्ति गणेश जी की सहायता लेनी पडी। इन अष्टादश पुराणो के द्वारा इस महादेश में भक्ति की धारा उद्दाम गति से प्रवाहित हो गयी। अत त्रिदेवोपासना अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु शिव -माहात्म्य की मन्दाकिनी का उद्दाम स्रोत बहने लगा। जहा पहले इस देश मे — स्वर्गकामो यजयत् —की परम्परा थी वहा अब — स्वर्गकामो मन्दिर कारयेत् — की सस्था इतनी द्रुतगति से विकसित, पुष्पित एव फलित हो गयी कि सारी की सारी जनता ही नही बडे बडे राजे महाराजे भी इसमे पूरी तरह शरीक हो गये। उन्ही की वदान्यता से, उन्ही की अतुल धनराशि से हमारे देश मे एक कोने से दूसरे कोन तक हजारो मन्दिरो का निर्माण हुआ और नाना स्थापत्य शैलिया विकसित हो गई, नाना शिल्प ग्रन्थ लिखे गये। यह कला भी कर्म-कला न रह कर ललित कला के महान् विकास एव प्रोल्लास से विकसित हो गई। साथ ही साथ धर्म एव दर्शन इन दोनो की सहायता से इस पूर्त-परम्परा को 'इष्टि' से भी बहुत आगे बढा दिया।

प्रासाद विन्यास प्रकार :—प्रासाद की प्रतिमा के आधिराज्य एव वैभव पर कुछ सकेत किया ही जा चुका है। प्रासाद-प्रतिमा के उपचारो मे राजोचित उपचार ही तो शिल्प-ग्रन्थो मे निर्दिष्ट किये गये हैं। अमरकोष की दिशा मे 'प्रासादो देवभूभुजाम्' से तात्पर्य प्रासाद एव राजहर्म्य पर्याय लौकिक तो माना जा सकता है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि भिन्न है। इसका राजोचित एकात्म्य इगित करना उचित है। जिस प्रकार प्राचीन एव मध्य-काल मे राज भवन समाज एव राज्य की सुषुमा, अभिख्या एवं महत्ता के प्रतीक थे, उसी प्रकार प्रासादो को भी उससे बढ कर विन्यास-प्रसार प्रदान किया गया है। मनुस्मृति (दे० ६ ३०३-३१७, ७४-५) मे प्रत्यक्ष राजा को देवता के रूप मे प्रकल्पित किया गया है। राजा एक मात्र शासक ही नहीं था, सर्वदेवो के समान पूज्य, आराध्य एवं सम्मान्य था। अतएव राजोपचार प्रासादोपचार भी एक प्रकार के हो गये थे। इसी पृष्ठ-भूमि से प्रासाद-निवेश में नाना विस्तार-प्रकार प्रादुर्भूत हो गये। इन प्रासादों में मण्डप, महामण्डप, अर्धमण्डप, अन्तराल, परिवार, देवालय, विश्राम-मण्डप, सभा-मण्डप तथा अन्य नाना मण्डप उदय होने लगे। इस प्रकार ये प्रासाद-पीठ प्रासाद-नगर के रूप में परिणत हो गये।

मण्डप-निवेश —समरांगण-सूत्रधार की उपमा में प्रासाद का पीठ या जगती प्रासाद-राज का सिंहासन है। प्रासाद से तात्पर्य गर्भ-गृह है। गर्भ-गृह के अतिरिक्त अन्य निवेश जैसे अन्तराल प्रदक्षिणा पथ मण्डप, अर्ध-मण्डप, महामण्डप आदि सब राज निवेशोचित बहिःस्थानादि-सम प्रकल्प्य हैं। यह हुई एक समीक्षा। दूसरी समीक्षा में मण्डप एक पूत एवं पावन वातावरण को प्रस्तुत करने के लिये दर्शनार्थी स्वतः ही प्रासाद-प्रतिमा की ओर एकाग्र चित्त हो जाता है तथा भक्ति भावना से अपने आप ओत-प्रोत हो जाता है।

मेरी दृष्टि में मण्डप-निवेश-परम्परा प्रासाद-निवेश से भी प्राचीन है। वैदिक सदस् प्राचीनतम मण्डप निवेश का अग्रज है एवं आविर्भाव है। महाभारत के काल में *सभा ही वास्तु-विन्यास की मूर्धन्य वास्तु-कृतियां थीं। सभा एवं मण्डप में विशेष* अन्तर नहीं था। मण्डपों का आकार सम ही था। छतों में कुछ अन्तर था। मण्डपों में लची हुई छतें (Pent) विन्यस्त होती थीं, सभाओं में शिखराभा (pinnacled) प्रदर्श्य थीं। समरांगण-सूत्रधार के प्रवचन पढ़िये तो ये तथ्य अपने आप पुष्ट हो जाते हैं—दे० अनुवाद।

मण्डप विन्यास की सब प्रमुख विशेषता स्तम्भ-निवेश एवं स्तम्भों की नाना चित्रालङ्कृतियां विशेष विभाव्य हैं। नाना आकार, नाना विच्छित्तियां, नाना प्रतीक ही मण्डप-स्तम्भों का वैशिष्ट्य है। दीपिका-तोरण गजलाल, घण्टा पद्म-पत्रा आदि नाना वास्तु-शिल्प-चित्रण इन मण्डपों की विशेषता मानी गयी है।

समरांगण-सूत्रधार में मण्डपों के दो वर्ग माने गये हैं—संवृत एवं विवृत। संवृत से तात्पर्य प्रासाद संवृत attached to the sthine से है। विवृत से तात्पर्य Detached पृथक् निवेश्य हैं। उत्तरापथ के प्रासादों (मन्दिरों) में संवृत मण्डप ही विशेष रूप से पाये जाते हैं। दक्षिण भारत के विमान-प्रासादों में संवृत मण्डपों के अतिरिक्त अगणित विवृत मण्डप उदय हो गये हैं। शत-मण्डप, सहस्र मण्डप, विश्राम-मण्डप, सभा-मण्डप आदि आदि का ऊपर कुछ संकेत किया जा चुका है। आगे चल कर धार्मिक कृत्यों के अतिरिक्त भौतिक उल्लास का भी अपने आप प्रासाद पीठों (Temple sites) पर उल्लसित होना स्वाभाविक ही था। अतएव नृत्य मण्डप, रंग-मण्डप या नाट्य मण्डप, संगीत मण्डप, द्यूत-मण्डप आदि भी उत्थित हो गये।

जहां तक मण्डपों की पदावली का प्रश्न है वह यहां प्रस्तोतव्य नहीं। वास्तु शिल्प-पदावली खण्ड में यह सब द्रष्टव्य है।

अन्त में यह सूच्य है कि मण्डपों की ऊंचाई प्रासाद की ऊंचाई से अधिक नहीं जाना चाहिये। हमने अपने ग्रन्थों में वास्तु-शास्त्रीय सिद्धान्तों पर इन विषयों की जो व्याख्या एवं समीक्षा की है वह वहीं द्रष्टव्य है। अब आइये जगती-निवेश पर।

जगती-निवेश—वैसे तो जगती का अर्थ पीठ है, जो प्रासादांग में विवक्ष्य था, परन्तु जगती समरांगण-सूत्रधार में एक विशिष्ट वास्तु-स्थान रखती है। जगती नगरग्रामलकार के रूप में परिकल्पित की गयी है। किसी भी पुराने जीर्ण-शीर्ण शिवालय की ओर मुड़िये, वहां जगती बड़ी ऊंची, बड़ी चौड़ी दिखाई देगी। जगती पीठिका ही नहीं वह प्रासादों में एक विशिष्ट रचना है। प्रासाद एवं जगती के प्रतीकोपौम्य में प्रासाद को लिंग और जगती को पीठ माना गया है।

'जगती' पद की जो दो व्याख्याओं का ऊपर संकेत किया गया है उन पर विशेष विवरण से पूर्व समरांगण-सूत्रधार के प्रवचन में द्रष्टव्य है—दे० अनुवाद। उत्तर भारत में किसी भी ग्राम (विशेषकर यू० पी०, मध्य भारत) में जाये वहां पर कुंवे की ऊंची पीठिका को 'जगत' के नाम से सम्बोधित करते है। इसमें यह 'जगत' जगती का अपभ्रंश सत्य है। अतः जगती पीठिका ही है, परन्तु वास्तु-शिल्प-शास्त्र एकमात्र यान्त्रिक कला-शास्त्र नहीं है, यह दर्शन-शास्त्र भी है। उपर्युक्त उद्धारण में जो दार्शनिक दृष्टि का पूर्ण संकेत है उसने जगती को स्वर्ग एवं अपवर्ग का साधन एवं पावन आगार एवं आवेश प्रतिपादित कर दिया है।

जगती निवेश में नागर-वास्तु विद्या एवं वास्तु-कला का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है। जगती निवेश में, शाला-विन्यास अभिन्न अंग है। चौड़ी, बड़ी, लम्बी ऊंची जगती पर चारों कोनों, चारों प्रमुख दिशाओं एवं विदिशाओं पर शाला-न्यास अनिवार्य है। इन शालाओं की संज्ञा यहां अवश्य अवतारणीय है—

कर्णोद्भवा, भद्रजा मध्यजा तथा प्रग्रीवा एवं गर्भ-संभवा तथा पार्श्वजा। इन जगतियों के नाना आकार भी प्रतिपादित हैं—चतुरश्राकार, आयताकार, वर्तुलाकार, वृत्तार्ध, अष्टा॰ आदि।

जगतियों की नाना संज्ञायें हैं। आकारानुरूप इन जगतियों की संख्या बड़ी लम्बी है जो अनुवाद में द्रष्टव्य है।

विमान-निवेश—अभी तक हम प्रासाद-निवेश में नागर-वास्तु-विद्या के अनुरूप अध्ययन करते रहे हैं। अब हम विमान-निवेश विमान-वास्तु पर भी अध्ययन आवश्यक है। पिछले स्तम्भों में प्रासाद एवं विमान के अपने अपने वैशिष्ट्य की ओर कुछ संकेत करते आये हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में द्राविडी कला नागरी

कला से भी अति प्राचीन, प्रवृद्ध एव अलङ्कृत है। आर्यावर्त यथा नाम आर्यो की सभ्यता से ही प्रभावित रही है। आर्य ग्राम्य-जीवी थे। आधुनिक विद्वानो ने आर्यों की सभ्यता के इतिहास मे आर्यों को पशुधन-व्यवसायी जाति (pastoral race) में परिगणित किया है। वैदिक सभ्यता भी इस बात का उदाहरण है कि हमारे पूर्वज ऋषि, महर्षि आचार्य आदि सभी गौवो के प्रति ही उनकी विशेष आसक्ति थी। जहा तक अनार्यों की बात है वे महान् तक्षक थे। नागो की कला—विशेष कर पाषाण-कला विश्व-विश्रुत है। भारशिव नाग वाकाटक वश के समकालीन थे और यह वश मौर्य वश से भी प्राचीन था। हा, यह अवश्य सगत है कि द्राविड-कला-दारव्य के निदर्शन पूर्व-मध्य-काल से लेकर उत्तर-मध्य-काल तक के ही प्राप्त होते हैं, परन्तु कला की समीक्षा में आदि स्रोतो की खोज भी परमावश्यक है। गुप्तकालीन मन्दिरो से ही नागर कला में प्रासाद-स्थापत्य का श्रीगणेश माना जा सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि द्राविडी तक्षको, स्थपतियो एव कलाकारो के सहयोग से ही यह नाना प्रासाद-स्थापत्य-शैलियो का विकास एव प्रसार सम्भव हो सका। अस्तु, विवादास्पद विषय में न जाकर अब हम विमान-निवेश तथा विमान-वास्तु पर अपने को एकाग्र करते हैं। समराङ्गण-सूत्रधार का सार्थक प्रमाण पहले ही प्रतिपादित हो चुका है। प्रासादो का उत्थान विमान पर ही अधारित था यह एक बडी गुत्थी है जो आधुनक अनुसन्धान पद्धति से इसकी पूरी छानवीन आवश्यक है, जिससे यह सिद्ध किया जाये कि नागर-कला से द्राविडी क्या पूर्व-वर्ती एवं अधिक प्राचीन एवं प्राचीनतम है कि नही? एव सकेत और भी आवश्यक है कि शिल्प-ग्रन्थो की दो परम्परायें हैं—एक उत्तरापथीय, दूसरी दक्षिणापथीय। दक्षिणापथीय ग्रन्थ शिल्प-शास्त्र के नाम से पुकारे जाते हैं, उत्तरापथ के वास्तु-शास्त्र के नाम से। अत यह असदिग्ध है कि 'वास्तु' से तात्पर्य भवन वास्तु से है, तथा 'शिल्प' से तात्पर्य मूर्ति-वास्तु से है। अत द्राविडी-कला की अलकृति-विच्छित्ति ही तो दूसरी विशेषता है। अतएव यह विसेषता नाग-तक्षको का अति प्राचीनतम कौशल है। बहुसख्यक दक्षिण भारत के विमान-मन्दिरो को वास्तु-कला को तक्षक-कौशल (sculptor s art) के नाम से उपश्लोकित किया गया है।

दक्षिणी वास्तु-विद्या के मूर्धन्य ग्रन्थ मयमतम्, मानसारम्, शिल्परत्नम्, काश्यम-शिल्पम्, तन्त्र-समुच्चयः, ईशानशिवदेवगुरुपद्धति आदि भी इसी तथ्य

का पोषण करते हैं। अस्तु, इस उपोद्‌घात के अनन्तर अब हम सूक्ष्म विवरणों से ही इस स्तम्भ को समाप्त करते है।

'विमान' पद के सम्बन्ध मे थोडा सा विद्वानो में वैमत्य भी है। विमान प्रासादाग है—यह धारणा भ्रान्त है। विमान एव प्रासा. पर्याय मान जाने चाहियें। जिस प्रकार प्रासाद मन्दिर (गर्भ-गृह) का पूर्ण कलेवर है, उसी प्रकार विमान भी गर्भ गृह का पूर्ण कलेवर है। डा० आनन्द कुमार स्वामी भी इसी निष्कर्ष पर पहुचे हैं। डा० क्रैमरिश ने भी अपने 'हिन्दू-टैम्पिल' में भी इस मत का पोषण बडी गहनता से किया है। ई० गु० प० जो दाक्षिणात्य वास्तु-विद्या का अधिकृत ग्रन्थ है, उसने भी अपने इस निम्न प्रवचन से पूरा का पूरा इस व्याख्या को सार्थक कर दिया है —

"नानामानविधानत्वात् विमान शास्त्रत· कृतम्"

जहा प्रासाद का जन्म एव विकास वैदिक 'चिति' सदनम् साद से हुआ है, वहा विमान इस प्रकार से शूल्व-सूत्रो के आदिम स्रोत विशेषकर ज्यामितीय वाड्मय परम्परा से ही यह विकास एव प्रोत्थान सपन्न हुआ है। डा० आचार्य ने 'मानसार' को शिल्प-ग्रन्थो का आदिम स्रोत माना है। मैंने इसे नहीं माना है, परन्तु अपनी समीक्षा एव व्याख्या में इन ग्रन्थो का मौलिमालायमान श्रेय 'मान' से है। एतएव 'मान' (measurement) तत्कालीन युग की वास्तु-कला की सर्व-प्रमुख विशेषता थी। पुन विमान शब्द 'माया' शब्द पर ही आधारित है। 'मेय' एव 'मान' वास्तु की आधार-शिला है। समरागण-सूत्रधार का निम्न प्रवचन पढें .—

'मेय तदपि कथ्यते'

अन्य प्रवचन भी पढें —

'मान धाम्नस्तु सुसम्पूर्ण जगत्सम्पूर्णता भवेत्'

अस्तु, इस उपोद्‌घात के अनन्तर अब हम विमान-निवेश की ओर आते हैं—विमान-वास्तु की सर्व-प्रमुख विशेषता गोपुर-निवेश एव प्राकार निवेश हैं। प्रख्यात मन्दिर-पीठो का दर्शन करें। पहले आपको गोपुर-द्वार तथा प्राकार ही प्राप्त होंगे। उत्तरापथ के प्रासाद-पीठो पर यह रचना न के बराबर है। दक्षिण के ये सब मन्दिर-पीठ मन्दिर-नगर के रूप मे विभाव्य हैं।

अत· विमान-वास्तु के सर्व-प्रमुख निवेश—प्राकार, गोपुर, परिवार, मण्डप विशेष उल्लेखनीय हैं। जहा तक शास्त्रीय विवेचन की बात है—इस

दृष्टि से 'वास्तु-शिल्प पदावली' खण्ड में द्रष्टव्य है। यहां पर हमें यही अभीप्स्य है कि प्रासाद एवं विमान का अपना २ क्या २ वैशिष्ट्य है।

प्रासादों की सब प्रमुख विशेषता है—शिखर शिखरों के नाना वर्ग हैं, जैसे अण्डक शिखर मञ्जरी शिखर, लता-शिखर आदि। ऊपर पहले भी कुछ संकेत किया ही जा चुका है। पुनश्च शिखरों का मूर्धन्य वास्तु 'आमलक' है, वही नागर प्रासादों की सर्व प्रमुख विशेषता मानी गई है। अथच जहां तक विमान मन्दिरों की विशेषता का प्रश्न है वे भौमिक प्रासादों के नाम से विश्रुत है। भूमियां (storeys) ही विमान-प्रासादों की सर्व प्रमुख विशेषता है। समरांगण सूत्रधार में द्राविड प्रासादों पर जो दो अध्याय हैं, उनमें इन द्राविड-प्रासादों अर्थात् विमानों को एक-भूमिक से द्वादश-भूमिक प्रासादों के रूप में वर्णित किया गया है। पुनश्च इनकी दूसरी विशेषता पीठ है, जिनकी संज्ञायें पांच हैं—वे तत्रैव (वा० शि० पदावली) में द्रष्टव्य हैं। पुनः उनके तलच्छन्दों की भी कुछ विशेषतायें हैं। इस संकेत के उपरान्त द्राविड-विमानों की सर्व-प्रमुख विशेषता वास्तु मूर्धन्य-अलंकरण स्तूपिका है—ये ही दो वास्तु-तत्व आमलक एवं स्तूपिका दोनों अर्थात् प्रासाद एवं विमान को अपनी २ शैली पर आसीन कर देते हैं जिस प्रकार आमलक अध्यात्म-निष्यन्द-सार है उसी प्रकार विराट्-पुरुष (Body Corporate) के ब्रह्मरन्ध्र की शिखा को 'स्तूपिका' के नाम से योद्धव्य है। *दार्शनिक तत्व दोनों में समान हैं।*

प्रासाद-प्रतिष्ठा एवं मूर्ति-न्यास —वैसे तो व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिष्ठा एक प्रकार से यज्ञीय कर्म है, परन्तु वास्तव में यह प्रतिष्ठा प्रासाद कला का मूर्धन्य कृत्य है। आजकल के लोग वास्तु-कला को कर्म-कला या यान्त्रिक-कला के नाम से संकीर्तित करते हैं, परन्तु हमारी परम्परा में जिस प्रकार —षट्ङ्गो वेद षड् दर्शनानि—तथैव हम ने अपने ग्रन्थ में 'षट् कला की *नवीन व्याख्या एवं समीक्षा की है* —ये ६ कलायें ललित कलायें हैं। जैसे संगीत, जैसे नृत्य, जैसे काव्य या चित्र या शिल्प, उसी प्रकार वास्तु भी *ललित कला है। जब संगीत में नाद ब्रह्म की कल्पना है, जिस प्रकार काव्य में* रस ब्रह्म की कल्पना है, उसी प्रकार वास्तु में भी वास्तु-ब्रह्म की कल्पना की गई है। अतः वास्तु-कला एवं शिल्प कला की जो मूर्धन्य-कृति है वह हिन्दू प्रासाद ही है। प्रासाद का आध्यात्मिक एवं दार्शनिक रूप पूर्व-प्रतिपादित हो ही चुका है। अतः प्रासाद-प्रतिष्ठा के लिये यह वास्तु-कला भी एक प्रकार से महान् यज्ञीय कर्म है।

स्थपति एवं स्थापक—कर्तृ-कारक-व्यवस्था.—प्रासाद-प्रतिष्ठा में स्थपति स्थापक विवेचन आवश्यक है। स्थपति की योग्यता एवं स्थपतियों की चतुर्मुखी कोटि पर हम अपने भवन-निवेश में काफी प्रतिपादन कर ही दिया है। यहाँ पर यज्ञ-संस्थानुरूपता से स्थपति-स्थापक के साथ कर्ता अर्थात् स्थपति एवं कारक अर्थात् यजमान् अर्थात प्रासाद-कारक—इस विषय पर कुछ समीक्षा अनिवार्य है। आज के भारत को देखें तो यह स्थापत्य-कला निम्न वर्ग में ही सब्य है। उत्तर भारत में स्थपति-परिवार एक प्रकार से नष्ट-प्राय है। हाँ दक्षिण भारत में अब भी शिल्पि-वृन्द पाये जाते हैं। शिल्प-ग्रन्थों की हस्त-लिखित प्रतियाँ भी उनके पास अब भी विद्यमान हैं। परन्तु रहस्य क्या है कि इस देश में वह प्राचीन वास्तु-कला क्यों नष्ट-प्राय दिखाई पड़ रही है? सम्भवतः आदि स्थपति विश्वकर्मा को जो शाप लगा था तो क्या उसी का यह फल है। अस्तु, इस बखान में न जाकर अब हम स्थापक की ओर मुड़ते हैं। श्रौत-कर्म के विज्ञों में अविदित नहीं कि यज्ञ में आचार्य के बिना यज्ञ का सम्पादन असम्भव है। प्रासाद-कर्म भी यज्ञ-संस्था के समान है। यज्ञ कराने वाला यजमान् कहलाता था, यज्ञ-कर्ता पुरोहित था, यज्ञ-कर्म का निर्देशक आचार्य होता था। तदनुकूल प्रासाद-कर्म में त्रिजन(Trinity) की भी अनिवार्य परम्परा बन गयी थी। कर्ता से तात्पर्य स्थपति से है, कारक से तात्पर्य प्रासाद-कारक यजमान से है। स्थापक से तात्पर्य प्रासाद-निर्माण का अध्यक्ष आचार्य होता था वह पद पद पर प्रासाद-निर्माण में नाना यज्ञीय उपचारों एवं धार्मिक तथा दार्शनिक कृत्यों से इस निर्माण को धर्म दर्शन से अनुप्राणित करता रहता था। वास्तु पुरुष-विकल्पन, वास्तोष्पति-आवाहन, वास्तु-बलि वास्तु देव-प्रतिष्ठा हल-कर्षण, अङ्कुरारोपण, गर्भाधान शिला-न्यास प्रतिष्ठापन-संस्करण, मध्य-मध्ये पूर्ण संस्कार, कलश-न्यास, मूर्ति-न्यास, प्रासाद-प्रतिष्ठा आदि आदि ये सब इसी उपर्युक्त तथ्य के पोषक हैं।

अब आइये किस मन्दिर का कौन कर्ता हो सकता है और कौन कारक हो सकता है। समराङ्गण-सूत्रधार से जो नाना-वर्गीय प्रासादों का स्तवन निर्मितियाँ एवं शैलियाँ व्याख्यात हैं उन में विशेष प्रासादों की महिमा में कर्तृ-कारक-व्यवस्था के पूर्ण संकेत प्राप्त होते हैं। यह सब अनुवाद-खण्ड में पठनीय है।

हमारे शिल्प-ग्रन्थों में स्थपति को ब्रह्मा के रूप में, कारक-यजमान को विष्णु के रूप में तथा स्थापक-आचार्य को रुद्र (शिव) के रूप में विभावित किया गया है। अथच इन्हीं तीनों की निष्ठा से प्रासाद का प्रारम्भ एवं अवसान, स्थान एवं प्रतिष्ठा, प्रासाद एवं प्रतिमा का संयोग साध्य एवं सिद्धि सम हो जाता है।

आकार-भूषा प्रतीक—मूर्ति-न्यास.—प्रासाद का आगार देवागार है। पीछे के अवतरणों से स्पष्ट सिद्ध है—प्रासाद पुरुष सदा पूजयन् मनविनम। अतएव

जिस प्रकार पुरुष के आकार मे नाना अवयवो जैसे पाद, चरण, अघ्रि, जानु, जघा, कटि, जठर, बाहु प्रबाहु, स्कन्ध ग्रीवा, मस्तक, मूर्धा, केश कपाल, ब्रह्मरन्ध्र शिखा, स्तूपी, आदि का प्रत्यक्ष दर्शन प्रत्यगो एव उपागो मे प्राप्य है, तथैव प्रासाद अर्थात् प्रासाद-पुरुष है—विराट-पुरुष है उसी प्रकार प्रासाद अर्थात् मन्दिर भी पुरुषागो से ही विनिर्मेय है। आगे के स्तम्भो म नाना अगो की तालिका दी जावेगी।

अब आइये भूषा की ओर। प्रासाद-शैलियो मे नागर शैली के भी अनेक अवान्तर विकास विख्यात हैं। प्रासाद-शैलियो मे शिखर-विन्यास ही परम घटक है। नागर शैली म जो नाना अवान्तर भेद पल्लवित हुये हैं उन मे अण्डक-शिखर, लता-शृग, मञ्जरी-शिखर ही विशेष उल्लेख्य हैं। इन्ही शिखरो की भूषा ने प्रासाद-भूषा को भारतीय स्थापत्य का मुकुट-मणि बना दिया है। अत शिखर ही प्रासाद-भूषा है। जहा तक विमान-भूषा की बात है वह कुछ विशेष स तीर्ण है। अधिष्ठान एव उपपीठ की नाना विच्छित्तिया, स्तम्भ की नाना भूषाऐं आकृतिया तथा अलकृतिया, द्वार एव द्वार-शाखायें, सोपान तोरण, भित्तिया वेदिकायें, कूट, शालाऐं पजर, जा ा ह, उत्तर, शिखर, स्तूपिका विमान-शिखर आदि आदि ये सब विमाद-भूषाऐं हैं।

जहा तक प्रतीको की बात है वे उत्तरापथीय मन्दिरो मे ये प्रतीक-लाछन विशेष दर्शनीय हैं। खजुराहो भुवनेश्वर, कोनार्क, पुरी, उदयपुर (एकलिंग), ग्वालियर तथा अन्य प्रासाद-पीठो को देखें, जहा पर नाना-वर्गीय प्रतीक-मूर्तियो के स ख्यातीत रूप प्राप्त होते है। इस मूर्ति-स्थापत्य (Iconographical Sculpture) को हम तीन वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं —

(१) प्रासाद-कलेवर पर उत्कीर्ण मूर्तिया
(२) प्रासाद-जगती पर निविष्ट मूर्तिया
(३) प्रासाद-मण्ड५ पर उत्कीर्ण मूर्तिया

प्रथम वर्ग मे नाना देवयोनिया—यक्ष, विद्याधर, किन्नर, अप्सरायें तथा परिवार-देव-देविया एव मिथुन विराजमान हैं। जगती पर जो शार्दूल, शक्ति, वृषभ, सिंह, आदि बृहदाकार मूर्तिया दिखाई पडती हैं—वे भी प्रतीक-लाछन है। अब आइये मण्डपो की अभिरया की ओर। मण्डप एक प्रकार से प्रासाद-गर्भ म देव-दर्शनार्थ के लिये एक प्रकार देव-भावना, पूत-भावना, भक्ति-श्रध्या जागृत करने के लिये तदनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के लिये प्रासाद-गर्भ मे जाने के लिये महामण्डप, अर्धमण्डप, अन्तराल इन तीनो की परिवार के ही देव साक्षात्कार करने की व्यवस्था है— वहाँ पर जो मूर्तिया दिखाई पडती हैं वे भी इसी वातावरण एव दिव्य भाव को उत्पन्न करने के लिये उत्कीर्ण की गयी हैं।

प्रासाद-कला-इतिहास

A new light on
Temple-architecture
Brahmana, Bauddha & Jaina

उपोद्घात—इन उपोद्घात में समीक्षा का विषय यह है कि कला का विकास सर्वथा धर्माश्रित अथवा राजाश्रय पर ही आश्रित है—यह तथ्य वास्तव में सब प्रकार से सत्य है परन्तु जो धर्म के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण की आवश्यकता है उस में थोड़ी सी यहा विशेष विवक्षा की आवश्यकता है।

आधुनिक कला-विशारदों ने तथा कला पर निष्णात लेखकों ने जो लगभग सौ वर्ष से लेखनी चलाई है, उनकी धारणाओं में मेरी दृष्टि में कुछ मौलिक भ्रांति अवश्य है। कला को विद्वानों ने देश, जाति, सभ्यता, जीवन, आचार, विचार का सर्व-प्रमुख प्रतीक माना है। इन भूतल पर नाना जातियों का एवं नाना सभ्यताओं का उदय हुआ। अतएव इन सभी जातियों की कलायें तथा अन्य धारायें अपनी अपनी दृष्टियों से विकसित एवं वृद्धिंगत हुई। विद्वानों ने भारत की सभ्यता को ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही माना है। सभ्यतानुरूप ही तो नाना विकास मूल पर ही आश्रित होते हैं तो क्या ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म भारत की सभ्यता के अनुकूल अथवा मूलाश्रय पर नहीं विकसित हुए। तो फिर भारतीय कला के इतिहास में जो विशेषकर प्रासाद-स्थापत्य अर्थात् धार्मिक या पूजा वास्तु को तीन प्रधान वर्गों में विभाजित किया गया है, वह गौण रूप से तो ठीक ही है। आधुनिक विद्वानों ने हिन्दू-प्रासाद (Hindu Temple) के जन्म के सम्बन्ध में जो नाना आकूत निकाले हैं, वे सर्वथा भ्रान्त तो हैं ही। हमने मूलाधारों (देखिये प्रथम पटल) तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों (देखिये द्वितीय पटल) में इन आकूतों का पूर्ण रूप निराकरण कर ही दिया है। यहां प्रकृत में जब हम इस तृतीय पटल में कला के स्तर पर आते हैं तो हमारे सामने यह समस्या उपस्थित होती है कि मूलाधारों (वैदिक, पौराणिक तथा लोकधार्मिक) एवं शास्त्रीय सिद्धान्तों के कोड में क्या हम तथा-कथित बौद्ध-वास्तु और जैन-वास्तु को इस स्तम्भ में न सम्मिलित करें ?

ऊपर की समीक्षा में यह असंगति अपने आप उठ खड़ी होगी, यदि हम भारत की सभ्यता के अनुरूप इस प्रासाद-वास्तु की समीक्षा न करें। बहुत से विद्वानों ने प्रासाद के जन्म और विकास के जो अनेक सिद्धान्त (Theories) स्थापित की हैं. वहां अब कई विद्वानों ने (देखिये P. K. Acharay's Manasara Publications and Hindu Temple—Dr. Stella Kramrish) हिन्दू प्रासाद के जन्म एवं विकास में वैदिक चिति

को ही जननी, व्यवस्थापक तथा प्रतिष्ठापक माना है तो फिर ई० पू० लगभग दो हजार वर्ष पुरानी शृखला को, गुप्त-कालीन या चालुक्य-कालीन या पल्लव-कालीन प्रासाद-विकास एव प्रोल्लास मे उसका ऐतिहासिक दृष्टि से किस प्रकार से हम पूर्ण रूप से मूल्याकन कर सकेंगे।

अतएव इस अभाव को दूर करने के लिये हमे पाठको और विद्वानो के सामने यह विचार प्रस्तुत करना है कि वैदिक चिति भी वैदिक-कालीन पूजा तथा आराधना का प्रमुख अग यज्ञ-सस्था थी। इस यज्ञ-सस्था का जब महान् प्रसार विशेषकर समृद्ध परिवारो, राजन्यो, राजकुलो, श्रेष्ठि-कुलो मे तो फैल गया था, एक प्रकार से साधारण जनता के लिये यह सस्था विशेष सुकर नही थी। अत अपने आप यज्ञ-सस्था के प्रति जनता मे औदासीन्य तथा अपने आप उपेक्षा फैल गई। इसी प्रगति में बौद्ध एव जैन— इन दो धर्मों का अनायास जन्म हो गया। सभी लोगो का ऐकमत्य है कि बौद्ध धर्म एक-मात्र राजाश्रित नही था। वह महात्मा बुद्ध के समय जनाश्रित था। अतएव जनाश्रय ने ही इस धर्म को ई० पू० पाचवी शतक से तृतीय शतक तक इस देश में बडा योगदान दिया। यह धर्म दुर्भाग्यवश एक-मात्र मौलिक नही था। यह एक-मात्र सक्रान्ति-युगीन था। अतएव अपने आप बौद्ध-धर्म में महान् परिवर्तन आ गया जिसको हम महायान के नाम से पुकारते हैं। इस महायान में पौराणिक पूजा परम्परा तथा अवतारवाद, तीर्थ-यात्रा, देव-पूजा सभी घटक जो पुराणो की देन थी, वह भी इसमे सम्मिलत हो गये। अतः यहा पर यह भी स्पष्ट करना है कि जब याग-सस्था के प्रति सामान्य जनता की विमुखता हो गई तो क्या ब्राह्मण, राजन्य भी कही चुप बैठ सके, उन्होंने भी बाह्य-पूजा के प्रति तिलाजलि देकर आत्मक-ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान की ओर पूर्ण रूप से झुक गये। राजन्य जनक का औपनिषदिक तत्व-ज्ञान विश्वविश्रुत है। जो ब्राह्मण, ऋषि और महर्षि वैदिक कर्म-काड पर भी आस्था रखते थे, उन्होंने भी तो ब्रह्म ज्ञान और आत्म ज्ञान की नई धारा उपनिषदो मे बहा दी। यह धारा तो भागीरथी गङ्गा के समान नहीं थी जो पूरे समाज को न आप्लावित कर सकी, न प्रक्षालित कर सकी। अत ऐसे समय मे एक महान् क्रान्तिकारी महात्मा भगवान् वेदव्यास की आवश्यकता थी जिन्होने विशाल-जन-समाज की प्रेरणा को देखकर, हृदयङ्गम कर इस अत्यन्त सूक्ष्म, कठोर, कठिन, अतिसीमित धारा को अर्थात् आत्म ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान, को महाधारा—देवपूजा, तीर्थ-यात्रा मे बहा दिया। अष्टादश पुराणो की रचना तथा इष्टि के बाद पूर्त-धर्म के स्थापन का श्रेय भगवान् वेद-व्यास को ही है।

अतएव महायान के विकास मे इन पुराणो का भी प्रभाव था तो फिर महायान धर्म की क्रोड मे प्रोल्लसित स्थापत्य-कला को हम क्या प्रासाद-कला अर्थात् पूजा वास्तु के रूप म नही मूल्याकन कर सकते ? जहा ब्राह्मण धम मे नाना उपासना सम्प्रदाय—ब्राह्म, वैष्णव, शैव शाक्त और गाणपत्य विकसित हुये तो क्या भारतीय मौलिक उन्मेष मे अन्य नई २ धाराए नही वर्गीकृत नही की जा सकती हैं ? अगर इन मौलिक उन्मेष म यह निस्संकोच प्रतिपादन करते हैं कि भारतीय कला विशेषकर प्रासाद-कला के जो प्राचीनतम बौद्ध-वास्तु के महानीय निदर्शन प्राप्त होते हैं वे भी पूजा-वास्तु या प्रासाद-वास्तु के हो विकास हैं।

अब एक समीक्षा और रह गई कि यह महायान-पूजा वास्तु के निदर्शन जैसे साची, बारहुत आदि महापीठ प्रख्यात हैं तो उनसे पहले कौन स पूजा वास्तु के निदर्शन हम प्रस्तुत कर सकते हैं। हमने अपने उपोद्घात म हिन्दू प्रासाद की जननी वैदिक चिति को माना है तो यह श्रृखला किस प्रकार से सम्बद्ध की जा सकती है। बहुत से, लगभग ई० पू० २००० वर्ष पुराने, जो खनन और अन्वेषण हुऐ हैं उनमे भी पूजा-वास्तु-निदर्शन के अभाव नहीं हैं। लिङ्ग पूजा नाग पूजा के प्रचुर प्रमाण प्राप्त होते हैं। पुन यह सारा पूजा-वास्तु एक मात्र पाषाणीय निदर्शनो म ही हम गतार्थ नही कर सकते। हाँ समरागण सूत्रधार म प्रासादो की नाना विधाए हैं जैसे पट्टिग, दारुज, लयन आदि आदि। पट्टिग मे तात्पय वस्त्र निर्मित दारुज से तात्पय काष्ठमय, लयन स ता पय गुहामय अथवा गुहाधर। अत जहा तक शास्त्रीय सिद्धान्तो अर्थात वास्तु शास्त्रीय शिल्प शास्त्रीय ग्रथा म प्रतिपादित इन सिद्धान्तो की जो समीक्षा है उसस यह तथा-कथित ब्राह्मण मन्दिरो क प्रासाद-वास्तु से बौद्ध विहार, चैत्य, स्तूप जैन प्रतीक एव प्रासाद भी कला की दृष्टि से पृथक् नही किये जा सकते।

बात यह है कि वरेण्य पुरातत्व विदो जैसे वर्जिज फर्गुसन आदि आदि ने भारतीय वास्तुकला एव मूर्तिकला के जो अन्वेषण अनुसधान तथा गवेषणात्मक विज्ञप्तिया प्रस्तुत की हैं वे सर्वथा उनक दृष्टि कोण म ठीक ही हैं क्योंकि यह ई०पू० तथा इसवीमात्तर जितने भी निर्मित स्मारक तथा खनित उपलब्धियाँ प्राप्त की है उनकी ऐतिहासिक दृष्टि मे सगति भ्रान्त नही है, परन्तु कला-समीक्षा की दृष्टि स इन सब स्मारको और उपलब्धियो का एक समन्वयात्मक(Synthetic) अध्ययन आवश्यक है। दुर्भाग्य का विलास है कि रामराज तथा प्रसन्नकुमार आचार्य के पहले किसी भी विद्वान् ने वास्तु शास्त्र अथवा शिल्प शास्त्र क सिद्धान्त को न तो पढा और न समझा। हमारे देश की सस्कृति के तन आचार विचार रहन-सहन, भोजन-भजन पर जब धर्म शास्त्रो मे, नीति-शास्त्रो म पूण, प्रचुर एव

प्रचुर प्रतिपादित किया गया है तो कला की निर्मिति और स्थापत्य के सिद्धान्तों का क्या बिना प्रतिपादन यह विलास, प्रोल्लास एव महान् प्रकर्ष कैसे सम्भव था? अत अब भारत-भारती के लिय इस अनुसन्धान की महती अपेक्षा है।

हम पहले ही ऊपर सकेत कर चुके हैं कि यह प्रासाद अर्थात् हिन्दू-मन्दिर की जन्मदात्री वैदिक चिति है तो बौद्ध विहार, चैत्य, स्तूप, सघाराम इन निवेशो के मूलाधार क्या हैं? स्तूप या चैत्य या विहार ये सब शाला एव मण्डप के निवेश पर आश्रित हैं। शालायें और मण्डप वैदिक याग-सस्था मे प्रवर्तित वैदिक इष्टि एव चितिया अर्थात वेदिया—ये सब इनकी अग्रजा थी और ये सब इन्ही की अनुजा हैं। शतपथ ब्राह्मण मे स्तूपाकृति वास्तु-निर्मितियो के बहुत सकेत मिलते हैं। चैत्य यथानाम चिति से ही निष्पन्न है। अत यह समस्त तथा-कथित बौद्ध वास्तु सब वैदिक वेदियो एव सदसो पर अधारित था यहा। पर इस उपोदघात मे यह एक मात्र अनुसधान के लिये विषय की विवक्षा की गई है। अब हम स्थानाभाव के कारण यहा पर विशेष विवरण प्रस्तुत नहीं करना चाहते। इस ग्रन्थ मे हमारा एक मात्र उद्देश्य है कि हम बौद्ध विहारो, चैत्यो, और स्तूपो को भी हम प्रासाद निवेश मे अवश्य गतार्थ करना चाहेगे जिससे भारतीय स्थापत्य की एकात्मकता और भागारथी गगा के समान सनातनी धारा मे हम स्नान करते हुये अपने को धन्य मानेंगे।



प्रासाद-वास्तु की ऐतिहासिक समीक्षा—तालिका

इस उपोद्‌घात के अनुरूप भारतीय प्रासाद-स्थापत्य को हम निम्न स्तम्भो मे विभाजित करना चाहते हैं —

१. पूर्व-वैदिक-कालीन—सिन्धु-घाटी-सभ्यता-कालीन
२. वैदिक-कालीन
३ उत्तर-वैदिक-कालीन
४. पूर्व-मौर्य-कालीन (४०० ई० पू०)
५. उत्तर-मौर्य-कालीन—अशोक-कालीन
६. शुंग-कालीन तथा आन्ध्र-कालीन (१८५-१५० ई० पू०)
७. लयन-प्रासाद—हीनयान-बौद्ध-प्रासाद (२०० ई०पू०से २००ई०)
८. गान्धार-वास्तु-कला—पूजा एवं पूज्य-वास्तु
९. दाक्षिणात्य-पार्वत-प्रासाद-वास्तु (२०० ई० पू०-५०० ई०)
१०. उत्तरापथीय ऐष्टिक-वास्तु—प्रासाद-रचना का विकास
११. गुप्त नरेशो के स्वर्णिम समृद्ध राज्य-काल मे नागर-प्रासाद-कला का जन्म, विकास एवं प्रसार (३५०-६५०)
१२. चालुक्य-नरेशो के राज्य-काल मे प्रोल्लसित प्रासदो की समीक्षा
१३. पल्लव-राजवश की अनुपम देन (६००-९००)
१४. चोल-नरेशो की वदान्यता और उनके काल मे उत्थित विमान-प्रासाद (९००-११५०)
१५. पाण्ड्य-नरेशो के युग मे विमान-वास्तु मे नई आकृतियो तथा नवीन निवेशों का उत्थान (११००-१३५०)
१६. विजयनगर-सत्ता मे विमान-प्रासादो मे नई उद्‌भावनायें तथा नई अलकृति-विच्छित्तिया (१३५२-१५६५)
१७. मदुरा के नायक राजाओ के काल मे दाक्षिणात्य प्रासाद—कला के चर्मोत्कर्ष मे विमान-वास्तु का सर्वश्रेष्ठ अवसान

टि० अब आइये उत्तरापथीय महाविशाल प्रासाद क्षेत्र की ओर जिनमे निम्न-लिखित वास्तु-पीठ विशेष विवेच्य हैं :—

१८. उत्कल या कलिंग (आधुनिक उड़ीसा)—भुवनेश्वर, कोणार्क तथा पुरी—केसरी राजाओं का श्रेय



पूर्व-वैदिक-कालीन—सिन्धु-घाटी-सभ्यता के पूजा-वास्तु-निदर्शन

हमने अपने उपोद्घात मे प्रासादो के जन्म एवं उदय मे वैदिक चिति को मूल प्रकृति माना है और इसी मूल-प्रकृति पर जो अनेक प्रतिक्रियाएं (prototypes) पल्लवित एवं विकसित हुई, उनमे सभा अथवा मण्डप-भवन ही सर्व-प्राचीन निदर्शन है। मोहेनजोदाडो और हडप्पा की खुदाई मे जो हमे वास्तु-निदर्शन मिले हैं, उनमे स्नानागार तथा भौमिक भवनो के अतिरिक्त सभा-भवन भी प्राप्त हुये हैं और इनका एक-मात्र प्रयोजन सम्भवत सामूहिक पूजा-भवन से था। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह सिन्धु-घाटी की सभ्यता पूर्व-वैदिक-कालीन थी अथवा समकालीन थी। ऋग्वेद की नाना ऋचाओं मे सहस्र-स्तम्भ सभा भवनो पर प्रचुर संकेत हैं। त्रिभौमिक भवनो (त्रिधातु शरणम्) पर भी पूर्ण विवरण है। यह हुआ तत्कालीन वास्तु-कला का साहित्यिक प्रमाण। ऋग्वेद मे शिश्न देवा —मूरदेवाः ये भी सकेत प्राप्त होते हैं। इस अत्यन्त वैदिक कालीन भवन-विन्यास तथा पूजा-सम्प्रदाय पर जो हमे सकेत प्राप्त होते हैं पुनः इस वैदिक-कालीन भवन-विन्यास तथा पूजा-सम्प्रदाय पर जो हमने सकेत किया है वह साक्षात् सिंधु-घाटी की सभ्यता मे पूर्ण रूप से प्रमाणित होता है। अत यह जो बहुत दिनो से यह धारणा शनैः शनैः परिपुष्ट होती जा रही है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता वैदिक काल से प्राचीनतर है वह सर्वथा ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही मान्य मानी जाए परन्तु सास्कृतिक दृष्टि से वैदिक-कालीन सभ्यता और सिन्धु घाटी की सभ्यता इस दृष्टि मे समकालीन है। इसके स्पष्टीकरण मे हमे दो तीन विवरणो की ओर जाना होगा।

(अ) बहुत से विद्वानो ने यह मान रक्खा है कि प्रतिमा-पूजा एक-मात्र उत्तर-वैदिक-काल अर्थात् सूत्रो, महाभारत, रामायण अथवा पुराणो के युग मे प्रारम्भ हुई—यह धारणा मेरी दृष्टि मे बिलकुल भ्रान्त है। इस महादेश मे जब आर्यों और अनार्यों का सघर्ष हुआ तो हम अनार्यो की सभ्यता को क्यो भूल गये और उनके जीवन एव उनकी कला पर बहुत बडे अनुसधान की आवश्यकता है। सिन्धु-घाटी की खुदाई मे हमे जो पूजा-प्रतीक (जैसे योनि-मुद्रा, शाकम्भरी देवी आदि अनेक प्रतीक एवं प्रतिमायें) तथा पशुपति शिव, लिंग-प्रतिमाए प्राप्त हुई

हैं, उन से यह साक्षात सिद्ध होता है कि यह सभ्यता अनार्यों, असुरो, द्राविडो अथवा नागों की थी।

(ब)सभी विद्वानो ने ऐकमत्य से यह स्वीकार किया है कि लगभग ५००० साल पुरानी बात है कि यह आर्य जाति अपने आदिम निवास पूर्व-मध्य एशिया से पश्चिम(योरोप) पूर्व (भारत) तथा उत्तर (ईरान) मे अपनी अपनी टुकडियो म विभाजित हो कर समस्त विश्व को आक्रांत ही नही कर दिया वरन् अन्य जातियो को परास्त कर अपनी सभ्यता का पूरा प्रसार कर दिया।

(स)अतः यह निर्विवाद है कि इस देश मे *यह पूजा-वास्तु* एक-मात्र आर्य-सस्था नहीं है वरन् अनार्य-सस्था भी है। जेता और जित दोनो के सम्पर्क से दोनो अपनी अपनी सभ्यता के मूल एक मे मिलकर महान् वटवृक्षोपम पल्लवता को प्राप्त होते हैं। *अत प्रासाद पद का नैरुक्तिक अर्थ जो है वह एक मात्र मन्दिर नही है* वह एक प्रकार से ऐष्टिक वास्तु है जो वैदिक भित्ति पर आधारित है। भारतीय वास्तु-कला के प्रसिद्ध लेखक जैसे परसी ब्राउन ने यह स्वीकार किया है कि *तत्कालीन सिन्धु घाटी सभ्यता मे जो भवन निर्मित हुये वे सब ऐष्टिक वास्तु हैं।* आर्यों और अनार्यों की सभ्यता में एक ही अन्तर था—आर्य आरण्यक, ग्राम्य सरितोपकूलीय जीवन पर अभिनिवेश रखते थे, अनार्य परकोटो से घिरे पत्तनो, पुरो, दुर्गों में *निवास करते थे। जहा आर्यों की जीवन-धारा में ग्राम्य और आरण्यक* जीवन अकाट्य तथ्य सिद्ध है तो फिर हमारे जितने भी वास्तु अनवा शिल्प ग्रन्थ मिलते हैं तो उनमे ग्राम-निवेश नगर-निवेश मे जो यह अविच्छिन्न परम्परा थी कि *सभी बस्तिया प्राकार,परिखा, वप्र, अट्टालक से अवश्य निविष्ट होने चाहियें तो* क्या यह आर्य घटक हैं या अनार्य। डा० आचार्य ने भी सिन्धु घाटी सभ्यता मे शिखरालकृत विमान-भवनो को भी सिन्धु-घाटी की सभ्यता मे इन्हे मन्दिरो के *रूप में उपकल्पित किया है। हमने पहले पूजा-वास्तु के निदर्शन मे सभा-मण्डपो* पर सकेत दिया ही है। मार्शल, साहनी बैनर्जी और आचार्य इन सब ने विमान-भवनो का भी परिपुष्ट प्रमाण से प्रतिपादित किया है। इन विमान-भवनो मे केन्द्र-प्रकोष्ठ मे दाढी वाली प्रतिमा अथवा *लिंगाकृति मे स्थापित पाई गई है।*

इस सन्दर्भ मे प्रसिद्ध लेखक हरनाम गोट्स ने भी इस का पूर्ण समर्थन किया है, जिन का उद्धारण आवश्यक है —

" *One of these* (*VR*-area at *Mohenjodara*) is approched from

the South by two symmetrically disposed stairs leading to a monumental double gate, in the small court a ring of bricks seams once to have enclosed a sacred tree or the statuette of a sitting bearded man, the fragments of which were found within the precincts In the citadel of Mohenjodaro another religious building has been discovered, the centre of which is a tank to which at both ends, steps lead down from a surrounding passage adjacent there is a pilastered hall and several sets of rooms or cells"—Art of the World—India p 27 28



२ वैदिक-कालीन-वास्तु

हम ऊपर वैदिक-कालीन पूजा-वास्तु के प्रमुख निदर्शनो मे वेदिका-वास्तु, शाला-वास्तु तथा मण्डप-वास्तु पर कुछ इगित कर ही चुके हैं, अत वैदिक-कालीन उपासना-परम्परा मे बहुल देववाद का महान् अभिनिवेश प्रारम्भ हुआ था। अत इन देवो की पूजा के लिये और उनको तृप्त करने के लिये तथा उनसे वरदान—आधिराज्य, स्वाराज्य, वैराज्य—आदि के लिये यज्ञ के द्वारा ही उनको वशगत करने के लिए पूर्ण प्रयास किया। अत तदर्थ याग सम्बन्धी सबप्रमुख उपासना थी। याग-सस्था के लिये नाना वास्तु-कृतिया भी अनिवार्य थी। अस्तु इन पर हम विशेष प्रवचन आवश्यक नही समझते—पूर्व-पटल—मूलाधार मे हम यह सब प्रतिपादित कर ही चुके हैं। अत हमारा यह अध्ययन प्रासाद-निवेश से सम्बन्धित है। अत प्रासाद की *मूलभित्ति को जन्म देने के का श्रेय वैदिक वाङ्मय और याग-सस्था ही है।* प्रासाद की दो दृष्टिया है प्रथमा आकार दूसरी प्राण। प्रासाद निराकार ब्रह्म की विराट् पुरुष की साकार प्रतिमा है प्रति कृति है। ऋग्वेद मे जिन दो देवो का पूर्ण सकेत है और जिन का पूर्ण सम्बन्ध इस रचना और प्रतिष्ठा से वे है वास्तोष्पति तथा विश्वकर्मा। विश्वकर्मा आर्य वास्तुकला के सर्व प्राचीन तम तथा आदिम (primordial) स्थपति है। मय अनार्यों के सर्व प्राचीन-तम तथा आदिम स्थपति हैं। महाभारत म मयासुर के द्वारा निर्मित सभा भवनो (इन्द्र-सभा यम सभा वरुण सभा) के उपाख्यानो से हम परिचित ही है। अब आइये वास्तोष्पति की ओर। हमारे देश मे लगभग पाच हजार वर्ष से यह सनातनी परम्परा है कि कोई भी भवनारम्भ वास्तोष्पति मत्र के बिना कोई भी वास्तु-विन्यास प्रारम्भ नही किया जाता। यही वास्तोष्पति देव आगे चलकर वास्तु पुरुष वास्तु ब्रह्म के रूप में विभावित किये गये। प्रासाद का अर्थ—सदन साद प्रकर्षेण साद प्रासाद अर्थात् जहा मान, धाम एव विन्यास-पुरस्सर नियम-बद्ध इष्टिका-चयन निष्पन्न होता है, वही चिति है वही चैत्य है, वही प्रासाद है। अत इस मूलाधार के मूल्याकन से कौन सी वास्तु कृति इस वैदिक परम्परा से प्रभावित नही है। जहा तक ग्रामो, नगरो कुलो, गोत्रो—गोवाडो - गाव त्रायन्ते यस्मिन् इति गोत्रम्— गोपुरो आदि—इन वास्तु-कृतियो से इस स्तम्भ में हमारा प्रयोजन नही है। अत. वैदिक-कालीन प्रासाद-निवेश की देन स्वत प्रकट है और विशेष विवरणो की यहा पर आवश्यकता नही है।

मौर्य-कालीन (ई पू० ४००)

मौर्यकालीन वास्तु कला के सम्बन्ध मे प्रौढ उपलब्धिया प्राप्त हुई हैं। ई० पू० पचम शतक मे मौर्यो की राज-सत्ता की स्थापना हो ही चुकी थी। यह राज-सत्ता इस देश मे प्राय सर्वत्र एक विशाल साम्राज्य एव आधिराज्य स्थापित करने मे पूर्ण सफल हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य-सम्राठ के राज-वेश्म, राज-प्रासाद का जो वर्णन मैगस्थनीज के वृतान्त मे पाया गया है उससे तत्कालीन वास्तु-विकास का पूर्ण परिपाक समर्थित होता है। राज प्रासाद काष्ठमय था पाषाणीय नही था। ऐष्टिक वास्तु के प्रति विशेष अभिनिवेश नही था अत ऐष्टिक एव शिलामय द्रव्य देव-प्रतिमाओ मे ही विशेष प्रयोग किय जाते थे। पुराणो को एक-मात्र गुप्त-कालीन कृतियो अथवा सपादनो म विभाजित करना अनुचित है। पुराणो एव आगामो का का आदेश था—शिलाकुड्य शिलास्तम्भ नरावासे न योजयेत अतएव तत्कालीन समाज मे इस देश की आब-हवा क अनुकूल मृन्मय, छाद्यमय, काष्ठमय आवास ही विशेष अनुकूल माने गये और यह परम्परा हमारे देश मे अब भी विद्यमान है। जहा तक वास्तु-कला के विलास, प्रोल्लास एव विकास की बात है उसका प्रतिविम्ब इस स्थापत्य निदर्शन (मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज-प्रासाद तथा अशोक का भी राजमहल-पाटलिपुत्र) म प्राप्त होता है। कैसे सभा-भवन, कैसी अन्त शालायें, कैसे मनोज्ञ स्तम्भ कैसे प्राकार, कैसी परिखायें कैसे वप्र तथा अट्टालक—इन पूर्ण अलकृति के परिपाक मे विकसित हो रहे थे। यह सब जन-वास्तु एव राज-वास्तु की की बात है।

अब आइय, प्रासाद-वास्तु की ओर। दुर्भाग्य का विलास है कि इस काल मे पूजा-वास्तु के निदर्शन अनुपलब्ध हैं परन्तु मेरी दृष्टि म उस समय सभी भवनो राज-भवनो या जन-भवनो मे सर्वत्र एक स्थान निर्धारित कर दिया जाता था जिसे देवगार, देवकुल, देवनिकेतन् के नाम से पुकारा जाता था। यह हम प्रथम ही प्रतिपादित कर चुके हैं।

उत्तर-वैदिक-कालीन

ऐतिहासिक दृष्टि से उत्तर-वैदिक-कालीन प्रासाद-वास्तु की समीक्षा वास्तव मे कठिन ही है। वैदिक-काल एवं उत्तर वैदिक-काल के तिथि-निर्धारण मे ही बड़े २ मत-भेद हैं तो फिर तत्कालीन जीवन धारा की अविच्छिन्न-परम्परा का मूल्याकन सुकर नही है। अत हमे इस विवाद मे न पड कर यहा इतना सकेत ही पर्याप्त है कि उत्तर-वैदिक-काल मे सूत्र-साहित्य को विज्ञानों के जन्म मे बड़ा श्रेय है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष—इस षडङ्ग वेदाङ्ग से हम परिचित ही हैं। उत्तर वैदिक साहित्य में इस स्तम्भ में कल्प तथा ज्योतिष की ही देन का मूल्याकन आवश्यक है। हमने अपने आग्ल-ग्रन्थो में लिखा ही है कि यूनानियों ने विज्ञान को ज्यामिति *(Geometry) से प्रारम्भ किया, हिन्दुओ ने भाषा-विज्ञान से किया।* परन्तु इस समानान्तर धारा के साथ हिन्दुओ ने ज्यामिति को भी पूर्ण प्रश्रय दिया। कल्प-सूत्रो से तात्पर्य चतुर्विध सूत्रो से है—गृह्य, श्रौत, धर्म तथा शुल्व। शुल्व वेदि-रचना की माप से सम्बन्ध है। धर्म से तात्पर्य चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था एवं चातुराश्रम्य व्यवस्था से तात्पर्य है। पुन: शेष गृह्य एवं श्रौत-सूत्रो का सम्बन्ध *यजन-याग*, पूजा-उपासना आदि से है जो गार्हस्थ्य यज्ञ एवं सामाजिक एवं राष्ट्रीय यज्ञो से विशेष सम्बन्ध है। इन यज्ञ-वेदियो एवं यज्ञीय-निवेशो के *मानादि, निर्माणादि एव द्रव्यादि ने ही आगे की प्रासाद-कला की मूल-भित्ति* को प्रस्तुत करते हैं। अतः इस अत्यन्त स्वल्प सकेत के बाद अब हमें थोडा सा महाकाव्यो (रामायण एव महाभारत) की काल-गरिमा पर भी कुछ सकेत आवश्यक है। रामायण में सौधो, विमानो, गोपुरो, तोरणो, प्रकार-परिखा-वप्र अटालक आदि परिवेष्टिप एवं अलकृत नगरों आदि नाना वास्तु-वैभवो के वर्णन प्राप्त होते हैं। महाभारत मे तो सभा-वास्तु का महान् विलास प्रत्यक्ष है जिसका पूर्व-सकेत हो ही चुका है। पुन इस महाकाव्य मे अनेक *तीर्थों, धामो, पुण्यतम सलिलाशयो, सरिताओ, पावन-कूलों का ही वर्णन* नही है, वरन् मुख्य देव—त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव से सम्बन्धित अनेक स्थानो, स्थलो एव आयतनो के वर्णन प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से इस उत्तर-वैदिक काल में तो प्रासाद-वास्तु अवश्य वृद्धिंगत हो चुका था। हा यह

अवश्य सन्दिग्ध है कि मन्दिरो के निर्माण मे किन २ द्रव्यो का विशेष प्रचार था। महाभारत के काल से सम्बन्धित कुछ स्थलो की खुदाई से धातुओं एवं पाषाणो की बहुत सी उपलब्धियां प्राप्त हुई हैं। अत. पुरातत्वीयान्वेषण—इस तथ्य के भी पोषक हैं। अतः अब आइये ईसवरीय-पूर्व-कालीन प्रासाद-वास्तु की ओर जो तिथिक्रम से अवश्य अनुसन्धत्त हो चुका है।



मौर्य-राजवंश—अशोक-कालीन स्थापत्य

यद्यपि मौर्य-काल में पूजा वास्तु का प्राधान्य नहीं था तथापि भारतीय वास्तु-कला, जिस का मुख्य एवं मूर्धन्य प्रासाद कला है, उस के विकासमान बीज पूर्ण रूप से पल्लवित हो चुके थे। पाटलिपुत्र का निवेश एवं उसमें राज-भवन या राज प्रासाद की रचना लौकिक-वास्तु (सेकुलर आर्किटेक्चर) का परम निदर्शन प्रस्तुत करते हैं। इस काल की वास्तु-कला का प्रधान निर्माण द्रव्य काष्ठ था। पाटलिपुत्र के ध्वसावशेषों में जो प्राचीन स्मारक प्राप्त हुये हैं, उनमें काष्ठ-मय प्रासाद के प्रौढ विकास का पूर्ण आभास मिलता है। हमने प्राचीन भारत के चार प्रमुख *स्थपति-वर्गों में काष्ठ-कला कोविद वर्धकि का कौशल वास्तु-*शास्त्र का एक अभिन्न अंग माना गया है, तदनुरूप मौर्य-कालीन वास्तु-कला-वर्धकि के कौशल की एक अत्यन्त एवं प्रशस्त दक्षता का निदर्शन है। पाटलिपुत्र की नगर रचना एवं राजधानी-निवेश की जो व्यवस्था थी वह प्राचीन भारतीय-वास्तु-शास्त्र के अनुरूप ही थी—अर्थात् प्राकार, परिखा से गुप्त एवं हर्म्य आदि मण्डित तथा द्वार एवं गोपुरों से सज्जित रक्षा-*संविधान की परिपाटी प्रचलित। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में नगर-निवेश की जो पद्धति प्रतिपादित की गई है,* उसका सुन्दरतम निदर्शन पाटलिपुत्र का निवेश है। अथच काष्ठमय प्रासादों के निर्माण में जहां काष्ठ-कला का वैशारद्य पूर्ण-रूपेण परिलक्षित है, वहाँ उनमें भूषा-विन्यास (पच्चीकारी) का भी कम कौशल नहीं है। वानस्पत्य विच्छित्तियों के साथ २ खग, मृग आदि पशु संसार के चित्रण भी पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हैं।

मौर्य-वंश के अमरकीर्ति प्रियदर्शी राजर्षि अशोक का संरक्षण पाकर भारतीय स्थापत्य निखर उठा। अशोक-कालीन भारतीय स्थापत्य में विशेषकर बौद्ध-काल के विकास का श्रीगणेश माना जाता है, जिनमें निम्नलिखित छै वास्तु-विन्यास विशेष उल्लेख्य हैं —

१ चट्टानों पर उट्टङ्कित शिला-लेख
२ स्तूप
३ एक-पाषाणीय स्तम्भ (monolithic pillars)

४ एक-पापाणीय आयतन
५ राज-प्रासाद तथा
६ पार्वतीय शालायें

प्रकृत मे यद्यपि इन निदर्शनो मे प्रासाद-कला का कोई आभास नही, परन्तु स्तूपो तथा आयतनो तथा प्रासाद-स्थापत्य की विच्छित्तियो एव पार्वत-वास्तु क इन प्रारम्भो म हिन्दू-प्रासाद के विकास एव उत्थान के बहुत से घटको के विकास-बीज अन्तर्हित हैं। अशोक के स्तम्भो की रचना से आगे के प्रासाद-स्तम्भो ने बहुत कुछ ग्रहण किया। प्रासाद के ध्वज-स्तम्भो की जो रचना आगे हम देखेंगे, उन पर अशोक के स्तम्भो का प्रभाव पूर्ण रूप से विद्यमान है। इन स्तम्भो पर गज अश्व, वृक्ष, वृष एव सिंह क चित्रणो मे प्राचीन वैदिक एव पौराणिक परम्परा प्रतिबिम्बित है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत की अत्यन्त प्राचीन उपासना के नाना स्वरूपा मे वृक्ष–पूजा एक बडी प्रचलित सस्था थी। वृक्षा के प्रकाण्ड काण्ड की यह परम्परा पापाण शिलाओ और पापाण स्तम्भो म भी परिणत हुई। बहुत से चित्रणो मे यह दृश्य विद्यमान है। पूज्य स्तम्भों की परम्परा सम्भवत इस देश मे बहुत पुरानी है। बेसनगर के स्तम्भ मे भी यही निष्कर्ष निकलता है। सम्भवतः अशोक के द्वारा निर्मापित एव प्रतिष्ठापित इन अगणित स्तम्भो का उपलक्षण पूजा-वास्तु के रूप म हम देख सकते हैं। इस प्रकार ये स्तम्भ देव रूप थे और आगे के मन्दिरो क अग्रजन्मा। इनके अतिरिक्त पार्वतीय-शालाओ को भी हम प्रासाद-वास्तु क उन्नायको एव नियामको मे परिगणित कर सकते हैं। इनकी विच्छित्तिया प्रासाद शिखर विच्छित्तियो के समान दर्शनीय हैं। पर्सी ब्राउन (देखिये इडियन आर्कीटेक्चर पृ० १०-१२) ने भी यह मत प्रकट किया है। अशोक-कालीन इन पार्वत-शालाओ के निदर्शन बाराबर पर्वत-माला मे कर्ण-चौपर सुदामा लोमस-ऋषि, विश्व झोपडी, नागार्जुनी-पर्वत माला में गोपिका, वहिजका, वादलहिरा के साथ सीता-मढी-वर्ग म भी द्रष्टव्य हैं।

टि० १. राज प्रासाद के सम्बन्ध मे हम पहले ही सकेत कर चुके हैं।
टि० २ पर्वत की पाषाण शिलायें प्रस्तर प्रतिमाओं की पूर्वजा हैं—
अ. शालग्राम, बाण–लिङ्ग जो स्वयम्भू प्रतिमायें हैं।
ब. गृहे गृहे गोवर्धन-पूजा—पर्वत-पूजा का प्रतिनिधित्व है।
टि० ३. प्रासादों की सज्ञायें पर्वतों से—मेरु, मन्दर, कैलाश आदि (दे० अनुवाद)।

शुंग तथा आंध्र राजवंशों एवं वाकाटकों महीयान् तक्षण-स्थापत्य

अर्चा गृहों एवं अर्चक-निवासों के आरण्यक, पार्वतीय एवं नागर स्थानों की निर्मिति में सर्वप्रथम ऐतिहासिक योगदान शुंग एवं आन्ध्र राजाओं ने दिया। यद्यपि इस काल की वास्तु कृतियों के निर्माण में विकास-क्रम की दृष्टि से काष्ठ का ही बहुत प्रयोग हुआ था अतः वे कृतियां प्रत्यक्ष बहुत कम निदर्शन प्रस्तुत करती हैं परन्तु साची, मथुरा, अमरावती, गान्धार, आदि के स्मारकों में चित्रित प्राचीन पूजा-गृहों (Primitive Shrines) के अवलोकन से तत्कालीन वास्तु कला के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है।

मौर्यों के बाद शुंगवंश का राज्यकाल आता है, पुनः आन्ध्रों का। शुंग सत्ता का उत्तर एवं पश्चिम में विशेष प्रभुत्व था और आन्ध्रों का दक्षिण में। आन्ध्रों ने अपने को दक्षिणेश्वर के नाम से स्वयं सकीर्तन किया है। ये दोनों ही राजवंश बड़े उदार थे। अशोक के समय बौद्ध-कला का जो विकास प्रारम्भ हुआ था, वह इनके समय में भी आगे बढ़ता रहा। साची, बरहुत आदि महा कला पीठों के विकास का श्रीगणेश इसी समय हुआ। विशेषता यह है कि इनके समय में प्राचीन पूजा-गृहों (early shrines) के भी निर्माण हुये जो आगे चलकर हिन्दू-प्रासद की निर्माण-शैली की पूर्वजा प्रतिकृति (Prototype) बने। हिन्दू पूजा-गृहों ने इस काल (२०० ई० पू०) की कृतियों में वेसनगर का विष्णु-मन्दिर (जो ध्वंसावशेष है) विशेष उल्लेख्य है। अन्य अनेक देव स्थान निर्मित हुये जिन की समीक्षा भी यहां अवश्यक है। भिलसा के समीप वेसनगर में स्थापित यह गरुड-स्तम्भ वासुदेव विष्णु मन्दिर पुरातत्वीय दृष्टि से सर्वप्राचीन प्रासाद-निदर्शन है।

ई० पू० २०० से ई० उ० २०० तक की भारतीय वास्तु-कला के इतिहास में राज-कुल के संरक्षण का अभाव था ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस काल की वास्तु-कला की मुख्य विशेषता बौद्ध विहार एवं चैत्य थे और उन में भी विभेद यह था कि उनके विकास की रूप रेखा में बौद्ध-धर्म की दो प्रमुख धाराओं—हीनयान एवं महायान—की अपनी अपनी विशिष्टता के अनुरूप इन धार्मिक स्थानों, आवास-गृहों एवं पूजा-गृहों की विरचना हुई। इस समय की सर्वश्रेष्ठ

एवं एक विशिष्ट कलाकृति गुहा मन्दिर या लयन प्रासाद अथवा पर्वत-तक्षण-वास्तु Rock-cut-architecture — एक अभूतपूर्व विकास प्रारम्भ हुआ। एतत्कालीन वास्तु-पीठों में अमरावती साँची अजन्ता जुन्नार, कार्ली भाज, कोण्डन, नासिक, उडीसा (खण्डगिरि), रानीगुम्फा एव गान्धार तथा तक्षशिला विशेष उल्लेख्य हैं।

भारतीय वास्तु-कला के रोचक इतिहास मे यहा पहले विकासवाद के क्रमानुसार मृत्तिका एवं काष्ठ ऐसे प्राकृतिक द्रव्यों का प्रयोग हुआ, वहा पर्वत-प्रदेश भी तो प्रकृति-प्रदत्त थे। फिर क्या प्रेरणा की आवश्यकता थी? श्रम, अध्यवसाय एव धैर्य के धनियो की भी कमी न थी। छेनी ने कमाल कर दिखाया। बडे २ पर्वतो को काट कर जो कला-भवन विनिर्मित हुए वे आज भी हमारे गर्व की चीज हैं।

इस प्रकार यहा के स्थपति और स्थापक यद्यपि प्रकृति के द्वारा सुलभ द्रव्यो के सहारे अपने निर्माण सम्पन्न करते रहे परन्तु वैदिक-कालीन इष्टिका-चयन की परम्परा विस्मृत नही हुई थी। अत पाषाण-तक्षण-वास्तु के साथ २ ईसवीयोत्तर शतकों मे ऐष्टिक-भवन (brick-building) की निर्माण-परम्परा सर्व-प्रथम उत्तर भारत मे प्रारम्भ हुई। मथुरा सारनाथ, बनारस, गया की तत्कालीन कला इसी कोटि म आती है। पर्सी ब्राउन (see Indian Architecture p 40) ने ऐष्टि भवनो को चार समूहो मे विभाजित किया है *जिनमे अधिकाश बौद्ध हैं। इनका द्वितीय वर्ग 'ब्राह्मण-मन्दिर' के नाम से* उपलक्षित है। इन मन्दिरो मे कानपुर जिले मे भीटर गाव का ऐष्टिक-प्रासाद बडे महत्व का है जो इष्टिका चयन-कला की उदात्तता एव पुष्टता पर ही प्रकाश नही डालता है, वरन् प्रासाद-वास्तु की प्रोन्नत रूप-रेखा पर भी सकेत करता है। भीटर गाव के अतिरिक्त मध्यप्रदेश मे रामपुर जिले में सरोद और सीरपुर के मन्दिर भी इसी कोटि मे परिगणित किये गये हैं। बाम्बे प्रेसीडेंसी (आधुनि महाराष्ट्र) के शोलापुर के निकट तेर पर दो आयतन (shrines) भी इसी वर्ग-वृक्ष की वल्लरिया हैं।

भारशिव-वाकाटक-काल (तीसरी-चौथी शताब्दी) मे नागर-शैली के मन्दिर बने। इन मन्दिरो मे भूषा-विन्यास का प्रारम्भ हो गया था। खर्जूर वृक्ष (जो नागो का चिन्ह था) की प्रतिकृति अधिकता से मिलती है। भारशिव-*नाग-राजाओ के समय से ही गङ्गा-यमुना आदि नदी-देवियो का प्रतिमा चित्रण*

भी मन्दिर के तोरण-चौखटो पर अंकित होने लगा था। भूमरा और देवगढ के प्राचीन मन्दिर इस पद्धति के अनुपम प्रदर्शन हैं।

वाकाटक राजवंश की भी मन्दिर निर्माण कला मे कम देन न थी। इनके समय मे शिवालयो का विशेष प्राधान्य था जिनमे एक मुखी एव चर्मु-मुखी लिंगो की स्थापना हुई। ऐसे मन्दिरो का प्रमुख केन्द्र नचना है। नचना के मन्दिर गुप्त-कालीन मन्दिरो की वास्तु-कला से साम्य रखते हैं। ये मन्दिर भूमरा और गुप्त-कालीन मन्दिरो की कला की लडी को जोडते हैं। वाकाटक मन्दिर भी प्राय गुप्त-काल के हैं। सम्प्रदाय भेद से नाग—वाकाटको के सभी मन्दिर शैव-सम्प्रदायनुरूप तथा गुप्त व शियो के वैष्णव-सम्प्रदायनुरूप हैं।



सातवाहन-वास्तु-कला में प्रासाद-प्रतिमा-स्थापत्य

उत्तरीय-दाक्षिणात्य-प्रदेशीय (the Northern Deccan) सातवाहन साम्राज्य के इस स्वर्ण-युग ने भारतीय स्थापत्य को पराकाष्ठा पर पहुचा दिया। साची का स्तूप बौद्ध-प्रासाद ई० पू० प्रथम शतक के उत्तरार्ध का निर्माण है इसके चतुर्दिक् चार तोरण-गोपुर द्वारा की आभा आज भी इस महनीय स्थापत्य-कला को जगमगा रही है। प्रतिमा-चित्रण (sculptures) जैसे लक्ष्मी आदि प्रासाद-प्रतिमा-स्थापत्य की गाथा है। य मत्र पूज्य एव पूजा-वास्तु की स्थापना करते हैं। इसी काल मे पश्चिम भारत के लयन प्रासाद जैसे भाज-गुफायें, कन्हेरी तथा कार्ली के चैत्य-मण्डप तथा नासिक निकट पाण्डुलेन गुहाय भी इस युग के निदर्शन हैं।

सातवहनो ने ईशवीयारम्भ मे पूर्वीय वेना को जीत लिया और बहुसख्यक स्तूपो की निर्मितियाँ प्रस्तुत की। इनम नागराज की प्रतिमा भारतीय पाषाणी-कला का एक तत्कालीन महनीय निदर्शन है।

टि० पर्सी ब्राउन ने इन सातवाहनों के श्रेय का कोई सकेत नहीं किया —ये स्तूप शुंगों तथा आन्ध्रों के काल मे कवलित किये गये हैं जिसके विवरण पीछे भी दिये जा चुके हैं।

इक्ष्वाकु-शैली

सातवाहन-साम्राज्य का अवसान इसी शैली में सम्पन्न हुआ। ये इक्ष्वाकु आन्ध्र-भृत्यों के नाम से उपश्लोकित थे। जग्गय्यपेट्ट तथा नागार्जुनी कोण्डा —ये दोनों प्रासाद पीठ जगद्विश्रुत हैं। इन वास्तु-पीठों पर दीर्घ स्तम्भ-बहुल मण्डप विशेष दर्शनीय हैं जो इन बौद्ध-विहारों—बौद्ध-प्रासादों से सवृत हैं। इन पीठों पर यक्ष-यक्षणियों के मन्दिर भी दर्शनीय हैं। भगवान् कार्तिकेय का भी मन्दिर यहां पर द्रष्टव्य है। हर्मन गोट्ज—दी आर्ट आफ दी वर्ल्ड—इंडिया—पेज ६२—में इस प्रसिद्ध कला-इतिहास पर जो निम्न समीक्षा की है, वह वास्तव में सत्य है। अतः यह अवतारणीय है —

'The characteristic features of the later South Indian temple, all turn up here for the first time in the third century Similar Siva temple shaped like Chaitya halls, have survived at Ter and Chezarla (4th 5th centuries), and they have also been prototype for one part of the later Pallava temples (7th century)—

इस अवतरण से मेरी पूर्व समीक्षा अब इस विद्वान् से भी समर्थित हो जाती है कि—ब्राह्मण-मन्दिरों और बौद्ध स्तूप-प्रासादों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

कलिंग-कला

कलिंग-कला दक्षिण-भारत-स्थापत्य के प्रोन्नाम का श्रीगणेश करती है। प्राचीन भारतीय भूगोल के अनुरूप कलिंग एक-मात्र दक्षिण ही नहीं वरन् इसका क्षेत्र आधुनिक उड़ीसा से विशेष सम्बन्धित है। प्राचीन उड़ीसा (कलिंग) खारवेलों, मेघवाहनों और चेदियों के राज्यकाल में तत्क्षेत्रीय कला का विशेष विकास जो आधुनिक अपनी गरिमा तथा कीर्ति की आभा से भारतीय-स्थापत्य को दीपित कर रहा है, वह है भुवनेश्वर। उसी के समकालीन एवं पूर्व-कालीन क्षेत्र था शिशुपालगढ़ जिसकी संज्ञा कलिंग-नगर थी और वह भुवनेश्वर के दक्षिण-पूर्व सन्निविष्ट था—इसकी चौड़ी परिखायें एवं अष्ट-द्वार-भूषा आज भी विद्यमान है, वह भी स्थापत्य का विलास प्रस्तुत करता है। उदयगिरि की गुफायें कलिंग-कला की बड़ी ओजस्वी निर्मितियां हैं। हाथी-गुम्फा में यह आज भी आभा प्राप्त होती है।

जहां कलिंग-कला का हम गान कर रहे हैं, वहां हम गुप्तों और आन्ध्रों की देन को विस्मृत नहीं कर सकते। सर्व-प्रथम कलिंगों एवं आन्ध्रों की कला का कीर्तन बृहत्तर भारत—द्वीपान्तर भारत से सम्बन्धित है। सिंहल-द्वीप (लंका), ब्रह्मदेश (बर्मा), मलाया, कम्बोडिया, श्याम आदि प्रदेशों में जो कला निदर्शन दिखाई पड़ते हैं—वे सब कलिंगों, आन्ध्रों का ही विस्तार प्रभाव प्रत्यक्ष है। मलाया, सुमात्रा, बोर्नियो, अनम आदि द्वीपान्तर भारत में अर्थात् दक्षिण-पूर्वी एशिया में जो तक्षण-कला प्रोन्नमित हुई उस पर अमरावती का प्रभाव प्रतिबिम्बित होता है।

टि० अस्तु इन विभिन्न प्राचीन वंशों के इस स्वल्प सङ्कीर्तन के उपरान्त एक तथ्य भी निर्देश्य है कि ज्योंही ईसवीय सवत् प्रारम्भ हुआ त्योंही इस देश में विदेशियों के आगमन से एक नई धारा—मिश्रण धारा (commingling of cultures) बहने लगी। यूनानियों, मेसीडिनियों तथा शकों, पार्थियों सीथियों के ही प्रभाव से तक्षशिला तथा गान्धार कलाओं का (Clasical Art) विकसित हो गया।

लयन-प्रासाद—हीनयान-बौद्ध-प्रासाद

बौद्ध-भवन जैसे स्तूप, चैत्य विहार तथा गुहा-मन्दिर—ये सभी हमारे प्रासाद-निवेश की कोटि में ही गतार्थ किये जा सकते हैं—इस पर हम पीछे भी कह चुके हैं कि वास्तु शास्त्र एवं शिल्प-शास्त्र में जो हिन्दू प्रासाद अर्थात् मन्दिरों की जो नामावलियां दी गई हैं जैसे मरु, मन्दर, कैलाश आदि आदि —वे भी यह पूर्ण-रूप से परिपुष्ट करते हैं कि हमारे प्रासाद-स्थापत्य का विकास सर्व प्रथम बौद्धों के अर्चागृहों (चैत्यों) तथा अर्चक निवासों (विहारों), सघारामों से ही प्रादुर्भाव हुआ है। जहाँ तक बौद्ध स्तूपों की बात है वह एक प्रकार से प्रतीकात्मक अर्च्य-स्मारक हैं ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी ऐसे संकेत मिलते हैं जो स्तूप-स्थापत्य का प्रदर्शन करते हैं। किसी महापुरुष के मरणोपरान्त उसके ध्यान एवं स्मरण के लिए इसी प्रकार स्तूप बनाये जाते थे। अतएव महात्मा बुद्ध के मरणोपरान्त इसी प्रतीकत्व के आधार पर स्तूप निर्मितियां प्रारम्भ हुईं। हिन्दू प्रासाद (मन्दिर) की आकृति पर्वताकार ही है। अतएव आकार और संज्ञा दोनों इस तथ्य का पोषण करते हैं कि समरांगण-सूत्रधार में प्रासाद वर्गों में लयन-प्रासाद गुहाधर प्रासाद गुहराज-प्रासाद संकीर्तित किये गये हैं। इस दृष्टि से शास्त्र और कला दोनों का स्वतः समन्वय प्रस्तुत हो जाता है। हमारे देश में गुहा निवास सनातन से चला आ रहा है, अतएव भारतीय स्थापत्य में जो लयन प्रासाद जैसे लोमस, ऋषि, खडगिरि, उदयगिरि, हाथी-गुम्फा भाज, कोण्डन कार्ली अजन्ता, एलोरा मामल्लपुर आदि आदि ये सभी पीठ इन लयनादि प्रासादों के सुन्दर निदर्शन हैं।

वास्तु-शास्त्र के अनुसार जो पद प्रयुक्त किये गये हैं जैसे लयन गुहराज तथा गुहाधर इस दृष्टि से उपर्युक्त निदर्शन लयन के निदर्शन हैं। गुहाधार प्रासाद अजन्ता की गुफाओं में भैलिमात्रायमान निदर्शन है। एलौरा और मामल्लपुर के मन्दिर गुह-राज के नाम से हम संकीर्तित कर सकते हैं।

गान्धार वास्तु-कला—पूजा एवं पूज्य वास्तु—महायान बौद्ध भक्ति सम्प्रदाय के क्रोड में आधुनिक विद्वानों ने भारतीय वास्तु कला के मूलाधारों नहीं किया कला संस्कृति का मुकुर माना जाता है। जब भारत इस महादेश की संस्कृति के सम्बन्ध में सभी विद्वानों ने एकमत से यह स्वीकार किया है कि संस्कृति एक ही है तो फिर कलाओं को विशेष कर प्रासाद कला—Temple architecture

को विभिन्न वर्गों मे अथवा विभिन्न श्रेणियो मे कैसे बाटा जा सकता है? पीछे के स्तम्भ मे प्रासाद-वास्तु क जन्म एव विकास पर जो मूलाधार हैं उनके विवरण दिये ही जा चुके है। अत बौद्ध अर्चा-गृहो तथा ब्राह्मण अथवा जैन अर्चा-गृहों मे थोडे से आन्तरिक भेद-घटक अवश्य दिखाई पडते हैं। परन्तु जहा तक मूलाधारो की बात है, वे एक ही हैं। प्रासाद का अर्थ एक-मात्र मन्दिर से हो नही है। प्रासाद, वैदिक चिति, बौद्ध स्तूप, बौद्ध चैत्य—इन सभी में गतार्थ होता है। जो भी पूजा एव पूजा-वास्तु है वही प्रासाद है। इस दृष्टि से तथा कथित बौद्ध-धर्म मे उत्थित महायान सम्प्रदाय में जो भक्ति-धारा बही, उसका स्रोत पौराणिक धारा ही थी। हम सब लोग यह जानते ही हैं कि पूजा के इतिहास में बडे बडे परिवर्तन हुये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हम पूजा को तीन वर्गों में बाट सकते हैं वैदिक ताँत्रिक तथा मिश्र। वैदिक पूजा से तात्पर्य इष्टि से है और मिश्र से तात्पर्य पौराणिक पूजा से है जिससे तात्पर्य है देव-पूजा, तीर्थ यात्रा, देवालया का निर्माण, वापी कूप आदि जलाशयो का निर्माण एव दानादि उत्सर्ग। इस महायान सम्प्रदाय की भक्ति-धारा के इतिहास में दो महान् प्रभाव प्रादुर्भूत हुये हैं। एक पौराणिक और दूसरा तान्त्रिक। प्राचीन, पूर्व-मध्य कालीन जो महायान सम्प्रदाय था उसम पौराणिक प्रभाव विशेष था। आगे चलकर तन्त्रो का जो उद्दाम विकास हुआ उसने समस्त ससार को आक्रान्त कर लिया था। अतएव महायान मे ही काल-यान, वज्र-यान, सुख-यान (महासुखवाद) आदि नाना सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव हो गया। तन्त्र का सर्वांगीण प्रभाव भारतीय स्थापत्य ही विशेष निदर्शन है।

इस उपोद्घात के अनन्तर जब हमें पाठको को इतना ही संकेत करना था कि भारतीय कला को हम एक ही प्रकार के मूलाधारो मे गतार्थ कर सकते हैं, अतएव हम इस ग्रन्थ यथानाम प्रासाद-निवेश मे बौद्ध पूजा एव पूज्य वास्तु को नहीं हटा सकते हैं

अब आइये गान्धार की ओर। गान्धार को आधुनिक विद्वानों ने चार सास्कृतिक धाराओ अथवा चार जातियो का सगम माना है अर्थात् यूनानी पार्थियन, सीथियन तथा हिन्दू। हम इस प्रकरण मे विशेष विवरणा म जाने की आवश्यकता नहीं है। बहुत दिनो से एक बडा विवाद चला आ रहा था कि बौद्ध प्रतिमायें जो गान्धार की बुद्ध मूर्तिया हैं, उनकी निर्मिति म कौन सी कला है भारतीय या यूनानी ? कला के क्रोड में किस मूलाधार को कवलित किया जा

सकता है। यह प्रकृत विषय विशेषतर पूजा एवं पूज्य-वास्तु-पीठों से सम्बन्ध रखता है तथापि यहां पर यह कहना सगत नहीं कि ये प्रतिमायें सर्वथा यूनान की देन हैं। यह धारणा बिलकुल भ्रान्त है। ईसा से पूर्व बहुत पहले हमारे देश में मूर्ति-कला (तक्षण-कला) विकसित हो चुकी थी। ईसा से पूर्व वैदिक सभ्यता के अनुरूप यज्ञ-संस्था सर्वदा विलीन नहीं थी। इसलिये मूर्तियां के निर्माण में लोगों ने विशेष अभिनिवेश नहीं पनपने दिया। बहुत से विद्वानों ने यहां तक लिख डाला है कि वैदिक-काल में प्रतिमा पूजा तो थी ही नहीं—यह बिलकुल गलत है। इस महादेश में उस समय दो महान् जातियां अपनी अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप जीवन यापन कर रहे थे। अतएव आचार-विचार, उपासना एवं अन्य संस्थाओं में एक दूसरे से अपना अपना वैशिष्ट्य रखते थे। जब हमें सिन्धु-घाटी की सभ्यता में नाना मूर्तियों के निदर्शन प्राप्त होते हैं तो वैदिक वाङ्मय में भी प्रतिमाओं के अनेक साहित्यिक संदर्भ प्राप्त होते हैं तो हम यह कैसे मान सकते हैं कि यह प्रतिमा-कला उस समय इस देश में बिलकुल विकसित नहीं हुई थी।

अस्तु, इस अत्यन्त स्वल्प समीक्षा के उपरान्त अब हमें गान्धार केन्द्र की स्थापत्य विशेषता का कुछ मूल्यांकन करना है। इस प्रसिद्ध पीठ पर दो प्रकार के निदर्शन प्राप्त होते हैं —स्तूप तथा संघाराम। स्तूप और संघाराम पूज्य और पूजकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार अफगानिस्तान, पेशावर, तक्षशिला आदि अनेक स्थानों पर इसी प्रकार के प्रासाद-पीठ प्राप्त होते हैं। पर्सी ब्राउन ने इस स्तम्भ पर काफी प्रकाश डाला है वह वहीं पाठनीय है।

इसी स्तम्भ में हमें उत्तर से दक्षिण की ओर भी मुड़ना है और साथ ही साथ मध्य-देश के उत्तुंग बौद्ध-मन्दिरों पर भी दृष्टिपात करना है।



दाक्षिणात्य-बौद्ध-प्रासाद-पीठ

इनकी तालिका निम्न रूप मे निभालनीय है, इनको हम दो वर्गों मे बाट सकते हैं-- लयन-प्रासाद तथा स्तूप प्रासाद ।

अ लयन –

१ गुण्टू-पल्ले - यह स्थान कमवरपुकोटा के पश्चिम मे ६ मील की दूरी पर स्थित है । यह स्थान किस्तना जिला के इलोरा तालुका मे स्थित है ।

२ सक्रम यह अनरावती नगर के पूर्व की ओर एक मील की दूरी पर स्थित है ।

ब स्तूप :—

१. जग्गय्य पेट (किस्तना जिले मे)

२. पेद्दामद्दरू (गुन्टूर जिला)

३ पेद्दामद्दर ग जम (निदर्शन १ २ ३ दे० प० ब्रा०)

४ भट्टी प्रोलू (किस्तना जिला)

५, गुडीवादा (किस्तना जिला)—मुसलीपट्टम के उत्तर-पश्चिम

६ घन्टसाल —मुमली-पट्टम के पश्चिम किस्तना जिले मे

७ गरिल-पद (कि० जि०)

८ अनरावती (गुन्टूर जि०)

९ *नागार्जुनी-कोंडा (गुन्टूर जि०)*

अब आइये मध्य-देश की ओर जिसको बहुत से विद्वानो ने पश्चिम भारतीय प्रदेश के रूप में गतार्थ किया है । दक्षिण भारत के जो निदर्शन उपरोक्त तालिका में अभी प्रस्तुत किय गये हैं, उनको हीनयान-सम्प्रदाय में गतार्थ किया है और तथा-कथित इस पश्चिम भारत अर्थात् मध्य-देश के जो प्रख्यात बौद्ध-पीठ हैं, इनमें विशेष उल्लेखनीय महायानी लयन-प्रासाद के निम्न क्षेत्र विशेष प्रसिद्ध हैं—जैसे अजन्ता, एलोरा और गाबाद तथा कुछ और क्षेत्र भी इसी क्षेत्र मे सम्बन्धित हैं ।

अजन्ता —अजन्ता के विहारो और चैत्यों की निम्न तालिका कालानुक्रम प्रस्तुत की जाती है :—

प्र. हीनयान-वर्ग—ईसवीय-पूर्व द्वितीय शतक से लेकर ईसवीयोत्तर द्वितीय शतक

१. विहार—सख्या ८

२ चैत्य-सभा-भवन—सख्या ६

३ चैत्य-सभा-भवन— ,, १०

४-५ विहार—सख्या १२ तथा १३

टि०—विश्रान्ति—ईसवीयोत्तर द्वितीय से ४५० तक

ब महायान-वर्ग—ईसवीयोत्तर ४५०-६४२

६-८ विहार—सख्या ११, ७ तथा ६—४६०—५०० ई०

६-१३ ,, ,, १५, १६, १७, १८ तथा २०— ,, ई०

१४ चैत्य सभा भवन—१६—५५० ई०

१५-१६ विहार—सख्या २१ से २५—५५० ६०० ई०

२० चैत्य-सभा-भवन—सख्या २६ ,, ,,

२१-२८ विहार—सख्या १ से ५—६००—६२५ ई०

२६-२७ ,, ,, २७ तथा २६—६२५—६४२



उत्तरापथीय ऐष्टिक वास्तु—
प्रासाद-रचना का विकास

वास्तु-कला के इतिहास के प्रसिद्ध लेखक पर्सी ब्राउन ने ऐष्टिक-वास्तु (brick-building) का प्रारम्भ बौद्ध-धर्म की छत्र छाया माना है। मेरी दृष्टि में यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। पिछले स्तम्भों में हमने प्रासाद-वास्तु के जन्म एवं विकास पर वैदिक-चिति की अमिट छाप पर प्रौढ़ प्रकाश डाला ही है। अतः आधुनिक योरोपियन लेखकों को हमारे प्रासाद जन्म की इस समीक्षा के अतिरिक्त और दूसरा मार्ग ही नहीं था। आधुनिक वास्तु-कला-लेखकों ने पुरातत्वीय दृष्टि से ही भारतीय वास्तु-कला के इतिहास पर समीक्षा की है। यह सभी जानते हैं कि कला सभ्यता और संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ तथा मूर्धन्य प्रतीक है। अतः जब तक हम कलाओं के विकास के आधार-भौतिक अथवा मौलिक भित्तियों का मूल्यांकन नहीं करते तब तक हम कलाओं की समीक्षा पूर्ण रूप से नहीं कर सकते हैं। पूजा-वास्तु अर्थात् मण्डपों का जन्म और विकास कहां से हुआ – इन सभी की अग्रजा अथवा जननी वैदिक चिति है।

वैदिक चिति की सर्व प्रमुख-रचना ऐष्टिक-वास्तु थी तो फिर ईसवीयोत्तर काल में हीनयान सम्प्रदाय के क्रोड में ही ऐष्टिक-वास्तु का जन्म हुआ तो यह कैसे संगत समीक्षा मानी जा सकती है। हां यह एक तथ्य है कि हमारे देश में पाषाण कला (पार्वत–वास्तु) भी काफी समृद्ध थी जो नाग तक्षकों की देन थी। आर्य ऐष्टिक-वास्तु के जन्मदाता हैं। अनार्य अर्थात् द्राविड या नाग या असुर पाषाण वास्तु के महान् प्रसिद्ध तक्षक एवं कुशल कला-विज्ञ थे। डा० जायसवाल ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है कि भारशिव नाग पाषाण-कला के परम प्रसिद्ध तक्षक एवं प्रवीण थे।

अतः यहां इन दो भिन्नताओं को दूर करने के लिये यह अवश्य माना जावे कि वैदिक युग के उपरान्त ऐष्टिक-वास्तु बहुत शिथिल हो चुका थी। आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक संसर्ग आदान प्रदान आचार-विचार, रीति-रिवाज—अपने साथ एक महा-संगम की धारा हमारे इस देश में प्रस्फुटित हो गई। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से इस देश में ईसवीय पूर्व लगभग ३००० वर्ष पहले ऐष्टिक-वास्तु पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। मोहनजोदाडो

और हड़प्पा की खुदाई से भी इस प्राचीन ऐष्टिक-वास्तु का पूर्ण प्रमाण प्रस्तुत हो जाता है। पुन कालान्तर पाकर जब बड़े २ सघर्ष उपस्थित हो पड़े, नानान जातियों का यहाँ पर प्रभाव भी पड़ा तो बहुत कुछ समिश्रण अपने आप उपस्थित हो गये। इतिहास साक्षी है कि जब कोई भी परम्परा असाधारण कारणों क द्वारा विलुप्त हो जाती है, तो वह अपने आप पुनर्जन्म एव विकास क लिय प्रयत्नशील हो जाती है। ईसवीयोत्तर काल म इस देश में ऐष्टिक-वास्तु ने अपनी प्राचीन परम्परा को पुन पल्लवित, पुष्पित एव विकसित होने के लिये कदम उठाया जिसका श्रेय यहा के तत्कालीन वदान्य नरेशों को है।

वास्तु-द्रव्य की विधाये नाना हैं—मृत्तिका, काष्ठ, पाषाण तथा इष्टिकायें।

आधुनिक लेखकों ने पाषाणीय अथवा ऐष्टिक या काष्ठमय भवनों के सम्बन्ध मे ही कुछ लिख सके हैं। हमारी शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप भवनों की चार प्रमुख श्रेणियां थी—आवास-भवन (Residential Houses) जन-भवन (Public Buildings) जैसे सभा, मार्गशाला विश्रान्ति-भवन प्रक्षा गृह, नाट्य-सगीत-नृत्य-आदि-शालाऐं, राजभवन तथा देव भवन। जहा तक आवास-भवनों की कथा है कि हमारे देश मे सनातन से आवास-भवनों के लिये मृत्तिका अथवा काष्ठ ही का प्रयोग होता आया है। इसका प्रमुख कारण देश की जलवायु से सम्बन्ध है। अत यह देश उष्ण-प्रधान देश है, अत पुराणों और आगामों का आदेश है—शिलाकुड्य शिला स्तम्भ—नरावासे न योजयेत— अतएव जहा हमारे देश में देव-भवनों और राज-भवनों के निर्माण में शिला का तो अवश्य प्रयोग हुआ परन्तु आवास भवन सदैव मृण्मय-भवन उपयुक्त माने गये हैं। इनकी वास्तु-शास्त्रीय सज्ञा शाल-भवन है। इसपर हम विशेष-विवरण अपने भवन-निवेश में दे ही चुके हैं। इन शाल-भवनों (छाद्य-भवनों) की मूल भित्ति पर छाद्य-प्रासादों, सभा-मण्टपों का विकास हुआ। जहा तक काष्ठ-निर्माण-द्रव्य की बात है, उसका परम निदर्शन पाटलिपुत्र स्थित अशोक का राज प्रासाद जगत-प्रसिद्ध है, जिसमें हमें उसके विवरणों पर विशेष अभिनिवेश की आवश्यकता नही है। अस्तु इस समीक्षा के उपरान्त अब हमें आधुनिक लेखकों का अनुसन्धान अनुकरण आवश्यक नही है।

यह ग्रन्थ प्रासाद-निवेश से सम्बन्धित है, अत प्रासाद-कला के ऐतिहासिक

विहगावलोकन में जो हम ने अभी तक जो समीक्षा प्रस्तुत की है उसके उपरान्त हमें इस वास्तु-सागर की तीन महाधाराओं के कूलों पर विचरण करना है। पहली धारा दाक्षिणात्य कला है, दूसरी धारा उत्तरापथीय है और तीसरी धारा को हम वृहत्तर भारत—द्वीपान्तर भारत—के रूप में परिकल्पित कर सकते है। महाधाराओं के साथ कुछ क्षुद्र धाराओं का भी अवगाहन करना होगा जैसे पूर्वी धारा (बंगाल) विहार (आसाम) उत्तर पश्चिम धारा (काश्मीर नेपाल आदि)। अस्तु, अत्यन्त सूक्ष्म उपोद्घात के उपरान्त अब हमें पहली महाधारा दाक्षिणात्य प्रासाद कला की ओर जाना है।



दक्षिणापथीय-विमान

द्राविड प्रासाद

(भौमिक विमान)

तथा

वावाट (वैराट) प्रासाद

१ चालुक्य-वंशीय
२ पल्लव वंशीय
३ चोल वंशीय
४ पाण्ड्य वंशीय
५ होयसल वंशीय
६ राष्ट्रकूट वंशीय
७ विजयनग राज वंशीय
८ मदुरा नायक वंशीय

दाक्षिणात्य प्रासाद-स्थापत्य

प्रासाद-निवास के वास्तु-शास्त्रीय सिद्धान्तों पर पीछे के पटल में पहले ही पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। भारतीय वास्तु-कला विशेषकर प्रासाद-कला की दो प्रमुख *शैलियां हैं—एक नागर (नागर शैली), दूसरी द्राविड (द्राविड-शैली)।* इन दोनों शैलियों की विशेषताओं पर हम प्रकाश डाल ही चुके हैं तथापि यहां पर कुछ पुनरावृत्ति आवश्यक है। नागर-शैली के *प्रासादों* को हमने शिखरोत्तम प्रासाद की संज्ञा में कवलित किया है। द्राविड शैली के प्रासादों को हमने भौमिक *विमानों के रूप में परिकल्पित किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन दो* शैलियों में कौन प्राचीनतर है और कौन प्राचीन है। आधुनिक विद्वानों ने नागर-शैली(Northern Style)को प्राचीनतर माना है और द्राविड शैली (Southern Style) को नागर शैली के बाद मानी है। लेखक ही एक-मात्र इस आधुनिक भारत-भारती (Indology) में एक ही व्यक्ति है, जो द्राविड शैली को नागर शैली से प्राचीनतर मानता है। जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य कामकोटि-पीठम् के द्वारा आयोजित शिल्प-आगम-तन्त्र-सदस जो इलयायागुडी(Illiyathagudi) से प्रारम्भ हुई थी, तथा अन्य स्थानों पर भी आयोजित हुई थी, उसमें स्वामी जी ने विशेष रूप से मुझे आमन्त्रित किया था, तो मैं ने लगभग दस हजार व्यक्तियों के सम्मुख यह घोषणा की कि नागर-शैली को जो आधुनिक विद्वानों ने प्राचीनतर माना है, वह भ्रान्त है। शिल्प-शास्त्रों में विशेषकर समरांगण-सूत्रधार में जो प्रासाद की प्रतिकृति-प्रकृति आदि पर प्रकाश डाला गया है, उसमें विमान ही प्रासाद का जनक है। दक्षिणापथ पर प्रोल्लसित प्रासादों (मन्दिरों) को विमानों की संज्ञा में ही पुकारा गया है। पुनश्च आर्यों की सभ्यता का आदिम विकास उत्तरापथ पर ही हुआ था। उत्तरापथीय आर्य पाषाण-कला में विशेष निष्णात नहीं थे। हम ऊपर संकेत कर ही चुके हैं कि द्राविड, नाग या असुर ही पाषाण-तक्षण के कुशल स्थपति थे। दाक्षिणात्य वास्तु-कला के प्रसिद्ध पीठों पर जो प्रोल्लसित प्रासाद-कला दिखाई पड़ती है, उसको आधुनिक विद्वानों ने तक्षक-कला (Sculptor's Art) के रूप में प्रतिपादित किया है। अतः हमारे उत्तरापथ पर जो नागर-शैली में प्रासाद उन्मित हुये हैं और उनमें जो पाषाणी कला की महती अतिरंजना एवं अलङ्कृति -विच्छित्ति दिखाई पड़ती है, वह सब

नाग-तक्षकों की ही देन है। इस पर कुछ संकेत पाठकों को आगे भी मिलेगा।

यद्यपि हमने दक्षिण के प्रासादों को भौमिक विमानों में ही परिकल्पित किया है तथापि शिखर विन्यास जो नागर-शिखरोत्तम-प्रासाद का मूर्धन्य कौशल है उसमें भी पल्लवों की महती देन है। इस देन का श्रीगणेश ग्रायोहल, पट्टदकल (वातापि) से प्रारम्भ हुआ है। इसका रहस्य उत्कल अथवा कलिंग नरेशों का इस प्रदेश के नरेशों के साथ संसर्ग लगभग पांचवी शताब्दी में जो हुआ था वह इतिहास साक्षी है कि इसी के द्वारा उत्तरापथीय प्रासाद-वास्तु की भंगिम, नाना-शिखर-विच्छित्तियों से निखर उठी। इस शिखर विन्यास-विच्छित्तियों पर हम आगे के स्तम्भ में प्रकाश डालेंगे। (दे० मेरी समीक्षा तथा पर्सी ब्राउन का समर्थन—भुवनेश्वर मण्डल)। अब आइये प्रकृत की ओर।

भौमिक विमानों के सम्बन्ध में वास्तु-कला की दृष्टि से हम निम्नलिखित तीन घटकों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं —

अ—विमान प्रासाद की प्रमुख विशेषता भूमिकायें हैं—ये भूमिकायें एक-भूमि से ले कर द्वादश-भूमियों तक साधारण विन्यास है।

ब—प्रत्येक भूमि पर क्षुद्र विमान अथवा हर्म्य अथवा अल्प-विमान उत्थित होता है।

स—प्रत्येक भूमि-भित्ति संवृत होती है, जो अल्प-प्रासादों से घिरी हुई होती है।

इस प्रकार नाना भूमियों और उनके सम्भार बाहुल्यों का जब एकाकार प्रस्तुत होता है तो यह आकार पैरेमिड का रूप धारण करता है। इसीलिये दक्षिण के प्रासादों को Paramidal Form के रूप में विभावित किया गया है, और यह आकार किसी भी दाक्षिणात्य प्रसिद्ध प्रासाद पीठ देखें जैसे तजौर (बृहदीश्वर), मदुरा (मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर), रामेश्वर आदि आदि उन पर यही आभा निभालनीय है।

जहां शिखरोत्तम प्रासादों का सर्वोच्च अलंकरण आमलक है वहां इन भौमिक-विमानों पर स्तूपिका ही सर्वातिशायिनी विशेषता है। अब हमें एक महान् ऐतिहासिक भ्रान्ति की ओर आ जाना है। हम सहमत हैं कि उत्तर भारत में जो सांस्कृतिक तथा साहित्यिक एवं कलात्मक स्वर्णिम-युग का जन्म

गुप्त काल म प्रारम्भ हुआ वैसा हा प्रोल्लास दक्षिण भारत मे पल्लवो के काल म प्रारम्भ हुआ। जहा पर उत्तर भारत मे इस सास्कृतिक विकास का श्रय पुराणो को है जिन्होने ब्रह्मा विष्ण महेग की भव्य धारा को बहाकर इस आवत को पुनीत कर दिया था उसा प्रकार यह दक्षिण भारत भी इसी धारा के अनुरूप अपनी विशेषता से विकसित हुआ। यह बहुत पुराना कथा है कि महामुनि अगस्त्य न ही दक्षिण भारत को आय सभ्यता स आक्रन्त किया था। तथापि इस देश की मौलिक भित्ति का यदि हम मूल्याकन नहा करते तो यह समीक्षा अधूरी रह जाती है। जहा उत्तर भारत मे पौराणिक धम का साम्राज्य था तो दाक्षिणात्यो ने अपने पुराण आगमो की सज्ञा स रच जिनम शिव का ही माहात्म्य था। जिस प्रकार भगवान् विष्णु का आधिराज्य उत्तर मे था उसी प्रकार शिव का आधिराज्य दक्षिण म था। परन्तु इस महादेश का सास्कृतिक धार्मिक, एव कलात्मक प्रगतियो की एकता के लिय हमारे सतो न महान योगदान दिया। एक समय था कि वैष्णवो एव शैवो म एक महान सघष उपस्थित हो गया था। अत इसको दूर करन के लिय दक्षिण के तामिल नयनार तथा अलवार सतो न तामिल भाषा म एक सावजनिक भक्ति धारा का प्रसार कर दिया जिसम शिव और विष्णु दोनो की गाथा गाई गई। इन्होने तामिल पुराणो की रचना की। भारतीय ऋषियो महर्षियो सतो महन्तो की इस विशाल बुद्धि को हम विस्मृत नहीं कर सकते। सब से बडी देन समन्वय विचारधारा (synthetic and syncristic movement) थी जिसके द्वारा तथाकथित घोर विरोधी धम अर्थात बौद्ध धम के प्रतिष्ठापक महात्मा बुद्ध को यहा के महापण्डितो न विष्णु के दशावतार म परिगणित कर बौद्ध धम को यहा से एकमात्र निकाल कर आत्मसात कर लिया तो फिर इस क्षुद्र वैष्णव-शैव विरोध एक क्षण म इन लोगो न दूर कर दिया। अतएव क्या उत्तरापथ क्या दक्षिणापथ सवत्र ही शिव एव विष्णु दोनो की पूरी महिमा गरिमा निखर उठी। अस्तु इस समीक्षा के बाद अब हम इस दाक्षिणात्य प्रासाद कला को निम्नलिखित पृष्ठवर्गों म विभाजित करते है।

दक्षिण कला के विकास म निम्नलिखित सात राजकुलो का वरप्र वनायना एव वरिष्ठ प्रासाद-कला सरक्षण प्रस्तावनाय —

१ चालुक्य-नरेश (४५० १०५०—१३००)

२ पल्लव राजवंश (६००-६००)

३ चोल राजवंश (६००-११५०)

४. पाण्ड्य-नरेश (११००-१३५०)

५ होयसल-नरेश (१०५०—१३००)

६ राष्ट्रकूट-वंश

७. विजयनगर-नरेश (१३५०-१५६५)

८. मदुरा-नायक-राजा (१६००)

टि० चूंकि चालुक्य-काल तीन कालों मे विभाज्य है, अतः इन तीनों कालों को एक ही साथ ले सकेंगे—दे० चोलों के बाद।



पल्लव-राजवंशीय-प्रासाद-स्थापत्य-इतिहास

चालुक्य-प्रासाद-कला—टि० इस पर हम आगे चालुक्यो व तानो वालो को एक साथ रखेगे अत पल्लवो से प्रारम्भ करते हैं।

द्राविड देश मे द्राविडी शैली के विकास मे पल्लव-राजवश के सरक्षण ने शिलान्यास का काम किया है। आन्ध्र-राजाओ के अनन्तर द्राविड देश की राज-सत्ता पल्लवो के हाथ मे आई और इनकी प्रभुता सप्तम स लगाकर दशम शतक के प्रारम्भ तक प्रवृद्ध रही। इस राज सत्ता का सीमा प्रभुत्व आधुनिक मद्रास-राज्य था और इनकी कलाकृतियो की क्रीडा-स्थली इनके राज्य के केन्द्र में इनके राज-पीठ कजीवरम् (काञ्चीपुरम्) के आस-पास विशेष रूप से केलि करती रही। इनके प्रासाद-निर्माण-वैभव का प्रसार तजौर तथा पुडुक्कोट्टई ऐसे सुदूर दाक्षिणात्य प्रदेशो तक पहुचा।

इस काल के पल्लव राजवश मे चार प्रधान नरेश हुए, जिनके नाम पर पल्लवो की वास्तु कृतियो के भी चार वर्ग किये गये हैं। इनमे विशेषता यह है कि इन चारो वर्गों को वास्तव म वास्तु-कला की दृष्टि से दो वर्गों मे ही समीक्षा उचित है—प्रथम मे आपूर्ण पार्वत वास्तु (Wholly Rock-cut) के निदर्शन तथा द्वितीय मे आपूर्ण भू-निवेशीय वास्तु (Wholly Structural) के निदर्शन आपतित होते हैं। यहा पर पूर्व-सकेतिक चार राजाओ के कालक्रमानुसार वर्ग निम्नलिखित चार विभाजनीय हैं

१—महेन्द्र-मण्डल (६१०-६४०) मण्डप-निर्माण—पार्वत-वास्तु
२—मामल्ल-मण्डल (६४०-६६०) विमानो एव रथो का निर्माण
३—राजसिंह-मण्डल (६६०-८००) विमान (मन्दिर)-निर्माण—निविष्ट वास्तु
४—नन्दिवर्मन-मण्डल (८००-६००) विमान (मन्दिर) निर्माण—निविष्ट-वास्तु

प्रथम अर्थात् महेन्द्र-मण्डल की प्रासाद-कृतिया मदगपट्टु, त्रिचनापल्ली, पल्लवरम्, मोगलाजुर्नपुरम् आदि नाना स्थानो पर फैली हुई हैं। द्वितीय

वर्ग का प्रासाद-वैभव मामल्लपुरम् के प्रख्यात वास्तु-पीठ पर ही सीमित रहा। यहां के सप्त रथ (Seven Pagodas) की रीति से प्राचीन वास्तु-इतिहास धवलित है। इन रथों का संकीर्तन पञ्च पाण्डवों और गणेश के नाम से किया गया है—धर्मराज भीम अर्जुन सहदेव गणेश आदि।

तृतीय वर्ग का कौशल विशेष विख्यात है। अब वह पार्वतीय गुहा-मन्दिरों के क्षेत्र में विराम लेकर भू-निविष्ट विमानों एवं प्रासादों की ओर मुड़ते हैं। इस तृतीय उत्थान का मूर्धन्य महीपति राजसिंह था, जिसके काल में मामल्लपुरम् पर ही तीन विमान विकसित हुए—उपकूल (Shore), ईश्वर तथा मुकुन्द। पनमलाई (S Arcot Distt) का एक मन्दिर तथा कञ्जीवरम् के कैलाश-नाथ और वैकुण्ठ-पेरुमल ये दो मन्दिर भी इसी काल के कौशल के विख्यात निदर्शन हैं।

चतुर्थ वर्ग पल्लव-राजसत्ता का धूमिल इतिहास है। नन्दिवर्मन के राज्यकाल में विनिर्मित प्रासाद न तो गगनचुम्बी विमान कहे जा सकते हैं और न कौशल की अभिरञ्जना। और सत्य तो यह है कि वास्तु वैभव एवं साहित्य वैभव राज सत्ता के वैभव की निशानी है। अतः जब राज-सत्ता का ही ह्रास उपस्थित है तो साहित्य और कला को भी दीन होना ही पड़ता है। इस अन्तिम वर्ग में प्रख्यात निदर्शन लगभग ६ हैं, जो कञ्जीवरम् के मुक्तेश्वर तथा मातंगेश्वर, चिंगलपट में ओरगदम् के वडमल्लीश्वर, अरकोनम् के निकट तिरुत्तनी के विराट्टनेश्वर और गुडामल्लम् के परशुरामेश्वर में प्रेक्ष्य हैं।

अन्त में पल्लवों की इस महादेन में सर्वप्रथम विशेषता का प्रारम्भ गोपुर-विन्यास मण्डप-विन्यास अन्तरिका (Circum ambulatory passage) विशेष उल्लखनीय है। पल्लव प्रासादों में कैलाशनाथ तथा वैकुण्ठ पेरुमल विशेष उल्लेखनीय हैं जो इन महिमाओं का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं।



चोल-राजवंश में प्रोत्थित प्रासाद-कला

चोलों का युग दक्षिण भारत में मध्यकालीन स्वर्णिम युग के नाम से उद्घोषित किया जा सकता है। इसी युग में मन्दिर-नगर विकसित हुये। चोलों के राज्य में ही दक्षिण के उत्तुंग विमान-प्रासाद विकसित हुये। चोलों के राज्य में ही दक्षिण के उत्तुंग गगनचुम्बी विमान जैसे बृहदेश्वर, राज-राजेश्वर विनिर्मित हुये। साथ ही साथ पहले के मन्दिर-पीठों पर विभिन्न निर्मितियों से उनका विस्तार किया गया। आगे पाण्ड्यों में भी यही विशेषता हम देखेंगे। इस प्रकार चोलों को ही श्रेय है कि यह दाक्षिणात्य कला इस प्रकार से पूर्ण रूप से विकसित एवं स्थापित हो गई। सबसे बड़ी विशेषता प्रासाद निवेश में प्राकारों का विन्यास, गोपुरों का विनिवेश तडागों की स्थापना नट मडपो, व्याल मडपो, कल्याण-मडपो तथा परिवार मन्दिरो जैसे उमा-पार्वती, सुब्रह्मण्य, कार्तिकेय तथा गणेश (अर्थात् शिव मन्दिरों में) विस्तार किया गया।

इस विस्तार के अतिरिक्त शैली में भी अतिरंजन और विच्छित्ति वैभव भी प्रोल्लसित हो गया। सिंह-शार्दूल-चित्रणों से भूषित स्तम्भ-पट्टिकाएँ, वर्तुल विमानाकृति, भूमि-विस्तार विशेष उल्लेख्य हैं। सभा-भवन उपचार-भवन, आदि-आदि ने जो प्रासाद-प्रतिमा को राजोचित उपचारों एवं सम्भारों से भूषित कर दिया वह भी इसी काल की विशेषता है। चोलों के ही समय में गोपुरों की आभा प्रासादों से बढ़ गई। गर्भ-गृह अर्थात् प्रासाद जैसे के तैसे बड़े परन्तु गोपुर विशाल स्थापत्य कौशल एवं रचना एवं विच्छित्तियों में खूब बढ़ गये। चिदम्बरम् तथा त्रिवेन्द्रम के पद्मनाभ स्वामी के गोपुरों का मूल्यांकन आज भी हम उसी दृष्टि से कर सकते हैं। चोलों के राज्य-काल की प्रभुता लगभग १५० वर्ष (६००-११५०) तक रही और इसी काल में विशेषकर उत्तर चोल-काल में लगभग १०० मन्दिरों का निर्माण हुआ। चोलों के आधिराज्य में लगभग ३० मन्दिर-नगरियों की प्रसिद्धि हो गई जो कन्याकुमारी से लेकर कृष्णा नदी के अपरोत्तर भाग तक फैले हुए थे। इनमें प्रसिद्ध मन्दिरों की विशेष प्रस्तावना प्रस्तुत करेंगे।

एक ही विशाल भू-भाग के मण्डलेश्वरों का पारस्परिक प्रभुता संघर्ष भारतीय इतिहास की ह्रासोन्मुखी हिन्दू सत्ता की सामान्य कथा है। दक्षिण में

पल्लवों चोलो चालुक्यों पाण्डयों एव राष्ट्रकूटों—सभी ने इस बार (६००-११५०) मे अपनी अपनी प्रभुता की प्रतिस्पर्धा की। परिणामत चोलो के प्रभुता-संघर्ष मे विजय-श्री ने उन्हें ही वरा।

चोलों की प्रासाद कला को दो वर्गों मे वर्गीकृत किया जाता है—स्थानीय क्षुद्र-कृतियां तथा बृहत्तर विशाल-कृतियां। यत अपने शासन-काल के प्रभात मे वे राज्य की दृढता, सुरक्षा एवं सीमा विस्तार मे लगे रहे, अत १०वीं शताब्दी की कृतियां पुडुकोट्टाई के इतस्तत विनिर्मित हुई जिन्हें क्षुद्र कृतियो के रूप मे ही परिगणित किया जा सकता है। इनमे निम्नलिखित मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं :

क्षुद्र कृतियां

प्रासाद	पीठ	प्रासाद	पीठ
सुन्दरेश्वर	तिरुकट्टलाई	मुचुकुन्देश्वर	कोलट्टूर
विजयलय	नरतमलाई	कदम्बर	कदम्बरमलाई (नर्तमलाई)
मुवरकोइल (त्रि आयतन)	कोडुम्बेलुर	बालसुब्रह्मण्य	कन्नौर

इसी प्रकार चोलो की अन्य कृतियां सुदूर दक्षिण अरकाट जिले मे भी पाई जाती है। ये सभी कृतियां १०वीं शताब्दी की हैं।

विशाल कृतियां

चोलो की बृहत्तर विशाल प्रासाद-कृतियां चोलो के बृहत्तर एव विशाल राज्य विस्तार एव महान् ऐश्वर्य के प्रतीक है। य है—तञ्जौर का बृहदीश्वर-मन्दिर तथा गंगैकोण्डचोल-पुरम् का मन्दिर। प्रथम का प्रासाद-कारक यजमान महामहीपति राजाधिराज राजराज (९८५ १०१८) है, जिसने अपनी अपार धनराशि एव लोकोत्तर वैभव को देवचरणों मे समर्पित करने के लिए यह महा-अनुष्ठान ठाना। ऊंचाई मे और प्रकार मे दाक्षिणात्य कला का यह अनूठा एव अनुपम विमान विनिर्मित हुआ। द्वितीय अर्थात् गंगैकोण्डचोलपुरम् का विधाता राजेन्द्र प्रथम ने (१०१८-१०३०) सम्भवत अपने पूर्वज से प्रतिस्पर्धा लेकर ही यह मन्दिर बनवाया था।

इस प्रकार चोलो की अनुपम कृतियो म भारतीय वास्तु-कला की दक्षिणी शैली के उत्पादन की पराकाष्ठा पहुंच गयी। यद्यपि संख्या कम है परन्तु गुणातिरेक मे चोलो का वास्तु-वैभव भारतीय इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ है।

पाण्ड्य-नरेशों के युग में विमान-वास्तु में नई आकृतियों तथा नवीन निवेशों का उत्थान (११००-१३५०)

चोलों की राज्य सत्ता के बाद दक्षिण भारत में पाण्ड्यों की प्रभुता का आविर्भाव हो गया। पाण्ड्य नरेशों की भावना विशेषकर पौराणिक पूर्त-धर्म की ओर अग्रसर हुई। इन्होंने नवीन प्रासाद-विमानों की रचना के प्रति विशेष अभिनिवेश न देकर पूर्त-धर्म के अन्तर्गत जीर्णोद्धार-व्यवस्था के लिए सर्व-प्रथम ध्यान दिया। साथ ही साथ इन नरेशों ने दाक्षिणत्य वास्तु में जो चोलों ने विस्तार-पद्धति अर्थात् गोपुरों और प्राकारों के निवेश का श्रीगणेश किया था, उनको इन्होंने और भी महती आस्था और वदान्यता के साथ इस युग को और भी आगे बढ़ाया। प्रसिद्ध मन्दिर-नगरों के सम्बन्ध में हम कुछ पहले ही संकेत कर चुके हैं, परन्तु पाण्ड्यों ने वास्तव में बड़ी बुद्धिमत्ता से ढहे हुवे इतस्ततः विकीर्ण नाना क्षेत्रों में मन्दिरों का जीर्णोद्धार प्रारम्भ कर दिया और साथ ही साथ इन पवित्र धामों और पीठों पर प्राकारों और गोपुरों की नवीन रचनाएँ प्रारम्भ कर दीं।

पाण्ड्य राजाओं के काल में प्रासाद-कला में एक अभिनव कला-कृति का उदय हुआ। पांचवें अध्याय में मन्दिरों को हम तीर्थ-स्थानों के रूप में देख चुके हैं। मन्दिर और तीर्थ का यह तादात्म्य हिन्दू संस्कृति का पौराणिक विलास है। अतः जो भी मन्दिर बन गये, जहाँ कहीं भी देव-स्थान प्रकल्पित हो चुका वह सदा सर्वदा के लिए पूज्य बन गया। अतः वास्तु-कला को प्रोत्साहन देने वाले राजकुल यदि किसी नवीन मन्दिर के निर्माण को न उठा सके तो पूर्व-निर्मित मन्दिरों के ही क्षेत्र में किसी न किसी कृति के द्वारा अपनी भक्ति एवं पूर्त-व्यवस्था को प्रश्रय देते रहे। इस दृष्टि से यद्यपि पाण्ड्य राजाओं के समय में चोलों के विस्तार विमानों की रचना नहीं हुई और चोलों के बाद बहुत समय तक (लगभग २०० वर्ष) तामिल देश इस प्रकार की कला-कृतियों से एक प्रकार से शून्य रहा तथापि यह निस्सन्दिग्ध है कि पाण्ड्यों के समय

दक्षिण के वास्तु कला में एक अभिनव वास्तु चेतना प्रतिस्फुटित हुई। यह है मंदिरों का प्राकार विन्यास तथा मंदिरों की चारों दिशाओं में गोपुरों की रचना का श्रीगणेश। दक्षिण भारत के उत्तुंग गोपुरों की परम्परा को जन्म देने का श्रेय इसी पाण्डय वंश को है।

पाण्ड्यों के पूर्व भी मंदिर द्वारों की विशिष्टि विन्यास से अलंकृत करने की कतिपय मंदिरों में प्रथा थी जैसे काञ्जीवरम के कैलाशनाथ मन्दिर तथापि यह परम्परा पूर्ण रूप से न तो पनप ही पाई थी और न इसकी वास्तु कला ही समृद्ध हो पाई थी। पाण्ड्यों ने ही सर्वप्रथम इस दिशा में कदम उठाया और पूर्वनिर्मित कतिपय प्रख्यात प्रासाद पीठों पर जैसे जम्बुकेश्वर, चिदम्बरम, तिरुवन्नमलाई तथा कुम्भकोणम में गोपुरों का निर्माण कराया। गोपुर वास्तु कला की सविस्तर समीक्षा का यहां पर अवसर नहीं है। पाण्डयों के काल में एकाध पूरे मंदिर भी बने। दारासुरम का मंदिर इसी कोटि में आता है।

यहां पर कतिपय पाण्ड्य गोपुर विन्यासों का समुल्लेखन आवश्यक है। चिदम्बरम का सुन्दर पाण्डय गोपुरम, तिरुवन्नमलाई, कुम्भकोणम, श्रीरंगम तथा जम्बुकेश्वरम इन प्रासाद-पीठों पर गोपुरों की रचना का श्रेय पाण्ड्यों को है। तञ्जौर के दारासुरम के प्रसिद्ध मन्दिर पर जिस गोपुर का निर्माण इन्होंने कराया वह दाक्षिणात्य कला की दृष्टि से बड़ा ही उत्कृष्ट माना जा सकता है और यही रचना आगे चलकर विजयनगरम् की प्रासाद कला का घटक बन गया। दक्षिण भारत का अन्यतम प्रसिद्ध मदुरा स्थित मीनाक्षी सुन्दरेश्वर पाण्डयों की प्रमुख देन है। जब मुसलमानों ने १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इस मन्दिर की महिमा को नष्ट कर दिया तो पुन आगे चलकर तिरुमलाई नायक ने १७ वीं शताब्दी में महान सम्भार के साथ जीर्णोद्धार के द्वारा जो इसकी पुन प्रतिष्ठा की और नाना रचनाओं की योजना की इससे यह मंदिर दक्षिण का सर्वप्रख्यात प्रासाद-पीठ बन गया। त्रिभुवनम पर स्थित रंगनाथ पीरुवनमन्त नामक रंगनाथ मंदिर भी पाण्डयों की ही देन है।

चालुक्य-नरेशों के राज्य-काल में प्रोल्लसित प्रासादों की समीक्षा

ऐतिहासिक दृष्टि से यद्यपि चालुक्यों की प्रासाद-रचना दक्षिण भारत में सर्वप्रथम गति थी, परन्तु दक्षिण-भारत के इतिहास के मर्मज्ञ विद्वानों से यह अविदित नहीं कि चालुक्य नरेशों के तीन राज्यकाल माने जाते हैं—पूर्ववर्ती (Early), परवर्ती (Later) तथा पश्चिमीय (Westrn)। अतः हमने इस ग्रन्थ में चालुक्यों के तीनों कालों में जो प्रासाद-कला विकसित हुई, प्रवृद्ध हुई—इसकी समीक्षा इसी एक स्तम्भ में करना विशेष उचित माना है।

गुप्त नरेशों के संरक्षण में उदीयमान उत्तरापथीय वास्तु-कला में प्रासाद-कला की जैसी अभिवृद्धि हो रही थी, वैसी ही उसी काल में (४५०-६५० तथा ६००-७५० ई०) दक्षिण में चालुक्य-नरेशों के संरक्षण में यह कला दूसरी ही दिशा में प्रोल्लास को प्राप्त हो रही थी। आयहोल बादामी (वातापि) तथा पट्टदकल—इन तीन चालुक्य-राज पीठों पर उत्तम देवायतनों, विमानों एवं प्रासादों का प्रोत्थान हुआ। इन प्राचीन राज-पीठों पर वास्तु पीठों का जो विकास हुआ, उनमें उत्तरापथीय तथा दाक्षिणात्य दोनों शैलियों के उत्थान का आनुपूर्विक क्रम देखने को मिलेगा। पापानाथ जम्बूलिंग, करसिद्धेश्वर, काशीनाथ (ये उत्तर-शैली में) तथा सगमेश्वर विरूपाक्ष, मल्लिकार्जुन, जगन्नाथ, सुन्मेश्वर आदि (दाक्षिणात्य वास्तु शैली में) मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

इस अत्यन्त स्थूल उपोद्घात के बाद, अब हमें पाठकों का ध्यान भी आकर्षित करना है कि पूर्ववर्तीय चालुक्य कर्नाटक के माण्डलिक नरेश थे। छठी शताब्दी में पुलकेशिन प्रथम सत्याश्रय ने अपने को कर्नाटक राज्य-सत्ता से स्वाधीन घोषित कर दिया और आयहोल की राजधानी से वातापि (बादामी) पर अपनी राजधानी स्थापित कर दी। यह एक प्रकार से पार्वत्य उपत्यका थी अतः यह किलाबन्दी से सुदृढ़ हो गई थी। पूर्व-सकेत के अनुसार जब चालुक्यों की राज सत्ता में तीन अवान्तर विस्फोट और प्रस्फोट हुवे तो उनकी कला कृतियों की धाराएँ भी अपने आप प्रादुर्भूत हो गईं। चालुक्यों की राजधानियां तीन थी—आयहल, बादामी तथा पट्टदकल।

तीनों पीठों पर नाना मन्दिरों की रचना हुई । अत: हम इन चालुक्य प्रासादों की कृतियों का हम निम्नलिखित तीन वर्गों में पीठानुसार वर्णित करेंगे :

१. अयोहल मडल

यहा पर पर विशेषकर शिव-मन्दिरों मे जो प्रासाद बने हैं, उनको आधुनिक वास्तु-लेखकों ने बौद्ध विहारों के रूप मे मूल्याकन किया है। यह धारणा भ्रान्त है कि शिल्प-शास्त्रों म विशेषकर समरागण-सूत्रधार में जो नाना प्रासाद-जातियों का उल्लेख है उनमें सर्वप्रथम स्थान छाद्य-प्रासाद तथा सभामडप-प्रासाद की जाति-सर्वोत्तम प्राप्त होता है अत मेरी दृष्टि में ये प्रासाद बौद्ध-विहार के क्रोड म कवलित नही किये जा सकते है। अयोहल का सर्व प्रथित मन्दिर दुर्गा-मन्दिर है जिसको हम सभा-मडप-प्रासाद के रूप मे ले सकते है। हम पहले भी यह कह चुके है कि ब्राह्मण-वास्तु और बौद्ध वास्तु एक ही मूल की शाखाएं हैं अत: यदि हम इसे चैत्य-मडप, सभा-मण्डप के रूप मे कहें तो भी अनुचित नही। विहार, छाद्य-प्रासाद, चैत्य, सभा-मडप सब एक ही हैं। हम यहा पर यह भी कहना चाहते हैं कि इस दुर्गा-मन्दिर का तक्षण-कौशल पूर्ववर्ती गुप्त-नरेशों की कला का पूर्ण प्रतिबिम्बन ही नही करते वल्कि अनुपम भी प्रस्तुत करते है। इन मन्दिरों के अतिरिक्त हुच्ची-मल्ली-गुड्डी तथा लागनाथ मन्दिर भी एक नया युग उपस्थित करते है। ये यहा पर नागर एवं द्राविड शैलियों का सगम उपस्थित करते हैं। इन मन्दिरों म शिखरोत्तम प्रासाद तथा भौमिक विमानों दोनों का श्रीगणेश यहीं से प्रारम्भ माना जा सकता है। अयोहल पर स्थित गुडी-नामक जैन मन्दिर नागर-शैली का पूर्ण निदर्शन प्रस्तुत करता है।

२ वातापि (बादामी) मण्डल

चालुक्य नरेशों की यह दूसरी राजधानी है। इसका प्राकृतिक वातावरण बडा ही आकर्षक है। साथ ही साथ पार्वत्य प्राकारों के द्वारा यह एक प्रकार से बडी सुदृढ नगरी थी। इस राजधानी मे उपत्यकाओं एव शिखरों दोनों पर मन्दिर प्रोत्थित हुए। अजन्ता के लयन-प्रासादों (गुहा-मन्दिरों) के समान यह भी छटा प्रस्तुत करते हैं। इन मन्दिरों मे दो मन्दिर शिवालय हैं। इन में सर्वोच्च शिव-मन्दिर स्थापत्य एव तक्षण दोनों दृष्टियों से बडा ही अनुपम प्रासाद माना जा सकता है। यहा पर शिल्प एव चित्र दोनों के

स्वर्गीय आधिराज्य मे महती आभा से यह दीप्यमान बन गया है। विष्णु की एक बहुत बृहदाकार मूर्ति देखने योग्य है। सुन्दरी देविया के चित्र भी तथा दीवालो पर विमुग्धकारी चित्र तथा प्रासाद-स्तम्भ एव पट्टिकाऐ भी दर्शनीय हैं।

चित्रकला का सवप्रथम निदर्शन प्राचीन प्रासादो मे यही एक स्थान है। इन तीनो मन्दिरो के अतिरिक्त और मन्दिर आधुनिक विद्वानो ने स्वतन्त्र सस्थान माने हैं विशेषकर मेलेगिही शिवालय— इसका निदर्शन प्रस्तुत करता है। हमने अपने अनुसन्धानात्मक एव गवेषणात्मक ग्रन्थो मे विद्वानो के सामने यह पहिला उन्मेष रक्खा है कि नागर-कला मे प्रोल्लसित शिखरोत्तम प्रासादो के विकास का श्रय इसी स्थान को है अतएव उस पीठ पर गुप्त एव पल्लव दोनो की स्थापत्य विशेषता दृष्टव्य हैं। यहा पर नटराज शिव का चित्रण भी प्राप्त होते हैं जो पल्लवो का प्रभाव माना जा सकता है।

२ पट्टदकल मण्डल

चालुक्यो की यह तीसरी राजधानी है और दक्षिण मे इसे पवित्र तीर्थ भी मानते हैं। यहा पर अनेक मन्दिर निर्मित हुवे। ७वी शताब्दी मे शैवो और वैष्णवो का घोर सघर्ष उठ खडा था। जहा उत्तर मे विष्णु-महिमा वहा दक्षिण मे शिव-महिमा थी। इसी सघर्ष-युग मे इसी राजधानी पर जो विष्णु मन्दिर था उसको शिव-पापानाथ के रूप मे पुनर्प्रतिष्ठा के रूप मे प्रतिष्ठापित किया गया और साथ ही साथ षोडश-स्तम्भ सभा-मडप का निर्माण कराया गया।

इन मन्दिरो के अतिरिक्त विजयेश्वर (आजकल सगमेश्वर) लोकेश्वर (आजकल विरुपाक्ष) तथा त्रैलोकेश्वर (आजकल मल्लिकार्जुन) यह सब पल्लवो का ही प्रभाव था।

एलौरा —चालुक्यो के स्थापत्य की इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त हम एलौरा को नहीं भुला सकते। एलौरा का कैलास काची के कैलाश नाथ का ही एक प्रकार का विस्तार है जो इसको हम अपनी शिल्पभाषा मे लयन और गुहाधर से आगे बढ़कर गुहराज प्रासाद के रूप मे विभावित कर सकते हैं।

पश्चिमीय चालुक्य —इन विवरणो से पूर्ववर्तीय और परवर्तीय चालुक्यो की देन का मूल्याकन कर सकते हैं। परन्तु यह समीक्षा पूरी नहीं हो सकती,

जब तक हम पश्चिमी चालुक्यों को इस स्तम्भ में नहीं लाते हैं। तैल द्वितीय, जिसने राष्ट्रकूटों का सर्वनाश किया था उसी ने पुनः बादमी के चालुक्यों की वंश-परम्परा का पुनरुत्थान किया। यद्यपि इन पश्चिमी चालुक्यों का (९७३-१२००) आधिराज्य न तो बहुत दिन तक रहा और न बहुत बड़े क्षेत्र पर फैल सका तथापि इनकी देन बहुत बड़ी थी। दक्षिण का मध्यकालीन स्थापत्य इन्हीं की वदान्यता का प्रतिफल है। साथ ही साथ शैली में भी कुछ नई उपलब्धियाँ हुईं। इन चालुक्यों के मन्दिर लगभग सौ संख्या में कृष्णा, तुंगभद्रा तथा भीमा इन तीनों नदियों की उच्च उपत्यकाओं में ही फैली हुई हैं। इनमें निम्नलिखित निदर्शन विशेष उल्लेखनीय हैं —

	स्थान	संज्ञा
१	कुक्कनूर	कल्लेश्वर
२	लखुन्डी	काशीविश्वेश्वर
३	लखुन्डी	जैन-मन्दिर
४	हवेरी	सिद्धेश्वर
५	हगल	तारकेश्वर
६	बालापुर	अरवहुलम्बद
७	इट्टगी	महादेव
८	दम्बल	दादावसप्पा
९	कुरुवट्टी	मल्लिकार्जुन
१०	गदग	सोमेश्वर



होयसाल नरेशों की देन

आधुनिक लेखकों ने होयसालों और राष्ट्र-कूटों को एक प्रकार से भुला दिया। जिस प्रकार दक्षिण-नरेशों में इनकी विशेष गणना नहीं जहां तक प्रासाद-कला की बात है, उसी प्रकार उत्तर में प्रतीहारों तथा कान्य-कुब्ज-नरेशों का भी मूल्यांकन नहीं हुआ। अतएव हम इस ग्रन्थ में इन राज-वंशों को लाकर अपना ऋण चुकाना चाहते हैं। ये होयसाल नरेश मैसूर मंडल से सम्बन्ध रखते हैं। ११वीं शताब्दी में ये स्वतन्त्र हो गये और अपनी राजधानी को इसी स्थान पर स्थापित किया जो १०२२-१३४२ तक चलती रही। यह काल एक प्रकार से महती उद्दाम-विचार-धारा का प्रतीक बन गया। इसी काल में सामाजिक और धार्मिक दोनों प्रकार के सुधार (Reforms) का उपदेश किया गया। इन उपदेशकों में विशेषकर कीर्तनीय हैं—शैवों में लिंगायत और वैष्णवों में रामानुज, माधव और निम्बार्क।

जहां उत्तर भारत में नागरी शैली में अलकृति-प्रमुख शैली को जन्म देने का श्रेय गुर्जरों को है तथा इसी शैली में प्रोल्लसित प्रासादों को लाट-प्रासादों के नाम से पुकारते हैं उसी प्रकार दक्षिण में इन होयसालों ने इसी प्रकार के अलंकृति-पूर्ण विस्तार-प्रस्तार-बाहुल्य विमानों का निर्माण कराया। अतः इस विस्तार-माला की निम्न स्वरूप-सूची प्रस्तुत करते हैं —

बलि-मण्डप	महामण्डप का अन्तराल
शुकनासी	सम्मुखीन स्तम्भबहुल अर्ध-मण्डप
नवरंग	पूजा-सभा भवन
सन्निधि	बृहत्-मन्दिर
महाद्वार	गोपुर
यज्ञ-शाला	
वाहन-मण्डप	नन्दी, गरुड आदि देव-वाहनों के मण्डप
कोष्ठागार	
पाक-शाला	

कूट एवं कोष्ठ, पञ्जर, पुष्प-बोधिका दे० वा० शि० प०

राष्ट्रकूटों की महती अभिख्या

राष्ट्रकूटो की राजधानी एलौरा अथवा इलापुर जगद्-विख्यात है। इनकी सर्वोत्तम कृति (master piece) एलोरा का कैलाश-मन्दिर है। यह स्थान तत्कालीन विभिन्न धर्मों का संगम-स्थान था जहा पर ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध सभी के मन्दिर बने। राष्ट्र-कूटो का यह श्रेय बडा ही उत्कृष्ट है। प्रसिद्ध जर्मन के लेखक हर्मान गोट्ज का आकूत है कि दीचपल्ली, बोधन तथा सन्दूर ये मन्दिर-पीठ राष्ट्रकूटो की ही देन है, जहा पर यह शैली पश्चिमीय चालुक्यो से ही प्रभावित हुई है।

अस्तु, इस अत्यन्त स्वल्प संकीर्तन के उपरान्त महामहिमामयी स्थापत्य-गरिमा के प्रतीक ऐलोरा-गुहाघर-मन्दिरा की निम्न तालिका प्रस्तुत करते हैं। यहा जैसा सकेत है सभी ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन मन्दिर हैं :—

मंदिर		संज्ञा
१ विहार	(बौद्ध)	धेरावारा
२ सभा-भवन	,,	
३ विहार	,,	
४-८ ,,	,,	महारावाडा
७ विहार-सवृत	,,	
१० चैत्य-सभा-भवन	,,	विश्वकर्मा
११-१२ विहार	,,	दो थाल तीन थाल
१३ क्षुद्र सभा-भवन	ब्राह्मण	
१४ मन्दिर	,,	रावण की खाई
१५ ,,	,,	दशावतार
१६ ,,	,,	कैलाश
२१ ,,	,	रामेश्वर
२५ ,,	,,	कुम्भारवाडा
२७ ,,	,,	ग्वालिनी गुहा
२६ ,,	,,	डूमारलेन (सीता नहानी)
३३ ,,	जैन	इन्द्र-सभा जगन्नाथ सभा
,,	,,	

विजय--नगर

जहां पूर्व मध्यकाल में चालुक्यों उत्तर का मध्य-काल में चोलों का प्रासाद-निवेश में महान योगदान था, उसी प्रकार विजयनगर साम्राज्य ने भारतीय-स्थापत्य में एक नया जागरण प्रादुर्भूत कर दिया। गाट्स महोदय की निम्न-लिखित समीक्षा मेरी दृष्टि में ठीक ही है –

"Of no other period of India's past we know so many, so impressive and so richly decorated temples, halls, enclosures, gateways, votive images in stone and bronze murals etc"

राज-हर्म्य एवं देव प्रासाद दोनों ही उत्तुंग शिखर पर विराजमान हो गये हैं। जिस प्रकार से राजा के लिए नाना-उपचारोचित, विलासोचित तथा वासोचित नाना उपकरण अनिवार्य थे उसी प्रकार मन्दिर की देवता के लिए भी इसी प्रकार के सम्भार अनिवार्य हो गये। विजयनगर की सत्ता में दाक्षिणात्य स्थापत्य-कला एक प्रकार से मनोरम-कला (Fine Art) बन गई। हमारे शिल्प-शास्त्र में वास्तु, शिल्प और चित्र, संगीत तथा काव्य के समान ही मनोरम कला मानी गई हैं। विजय-नगरीय मन्दिरों में कल्पना, कविता तथा नृत्य तीनों मिलकर एक नई स्फूर्ति, नवीन चेतना, नवीनतम उद्भावनाओं का प्रारम्भ करते हैं। इन मन्दिरों में कल्याण-मंडप प्रथम उपन्यास है। विजयनगर इस प्रसिद्ध नगर के भौमिक विमानों और प्रासादों की निम्नलिखित सूची प्रस्तुत करते हैं —

१. विट्ठलस्वामिन
२. हजाराराम
३. हजाराइग्ण
४. पट्टाभिरामस्वामी
५. पम्पापति

इस शैली में निर्मित अन्य मन्दिर-पीठों की सूची है—वेल्लूर, तिरुपती, मेगाक्षी अथवा काञ्ची, ताड़पत्री तथा श्रीशैलम्। कांची के एकाम्रेश्वर का दक्षिण गोपुर, ताडपत्री का कल्याण-मंडप, श्रीशैलम् का मल्लिकार्जुन—ये सब नवीन निर्मितियों में विख्यात हैं।

—:o:—

मदुरा के नायकों का चरमोत्कर्ष

मदुरा दक्षिण भारत के स्थापत्य का चरमोत्कर्ष माना जाता है। इस १६ वीं शताब्दी के बाद इस प्रदेश पर नायकों का आधिराज्य चमक उठा। मदुरा के तथा अन्य पीठों जैसे श्रीरंगम्, त्रिचनापल्ली आदि स्थानों पर निर्मित मन्दिर सब नायकों की ही देन हैं। ही मदुरा शैली एक प्रकार से पाड्यों की शैली का पुनरुत्थान एव पुनर्जागरण करती है।

मयाचार्य ने मयमत की रचना बहुत पुराने समय में की थी। मयमत की प्रासाद परिभाषा में न केवल गर्भ-गृह एक-मात्र प्रासाद है वरन् मंडप, प्रपा, शाला, रंगमण्डप, प्राकार गोपुर भी इसी परिभाषा में लाये गये हैं। अत. यह परिभाषा वास्तव में १७ वीं शताब्दी में ही पूर्ण रूप से आदर्श बनी। मदुरा शैली में विनिर्मित मन्दिरों में सर्वप्रमुख विशेषताएँ गोपुर, मंडप और प्राकार हैं। मदुरा के मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर मन्दिर की ओर मुड़ें तो सबसे बड़ी आभा गोपुरों की छटा है। सर्वोत्कृष्ट विन्यास मंडपों का, सर्व-प्रकृष्ट विन्यास प्राकारों का और ये ही बीज अन्य इसी काल में उत्थित प्रासाद-विमानों की सुषुमा हैं। यहा पर एक तथ्य और भी उल्लेखनीय है कि मन्दिरों का निर्माण तथा मूर्तियों की स्थापना तथा जलाशयों का निर्माण—ये सब प्रतिष्ठा तथा उत्सर्ग—पौराणिक पूर्त धर्म का ही विलास है। जहां महाराजाओं अधिराजाओं, माडलिकों आदि ने मन्दिर-निर्माण में महान् योग दान दिया वहां जनता भी पीछे नहीं हटी। इन नाना मन्दिर पीठों पर अनेक परिवारों तथा धार्मिक लोगों ने अपने अपने नाम से नाना मंडपों की रचना कराई, जलाशय बनवाये। कोई मंडप सहस्र मंडप है अर्थात् हजार खम्भों वाला कोई शतमंडप है अर्थात् सौ खम्भों वाला। इन्हीं विन्यासों से दक्षिण भारत में इसी काल में ये मन्दिर नगर बन गये। अन्त में हम एतत्कालीन मदुरा शैली में निर्मित लगभग ३० मन्दिरों की सूची में निम्नलिखित प्रमुख मन्दिरों की अवतारणा करते हैं—

स्थान	संज्ञा
मदुरा	मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर तथा सहस्रमण्डप
२—श्रीरंगम् मन्दिर	अनन्तशायी नारायण (रंगनाथ)
३-४—जम्बुकेश्वर तथा चिदम्बरम्	८—तिरुवन्नमलाई
५—तिरूवरुर	९—श्रीविल्लीपुतुर
६—रामेश्वरम्	१०—वरदराज पेरुमल (*काञ्ची*)
७—तिन्नेवेल्ली	११—कुम्भ-कोणम् (रामस्वामी)

उत्तरापथीय प्रासाद

नागर-प्रासाद
तथा
लाट-प्रासाद

१ वेगरी एवं गाङ्ग राजाओं का श्रेय - उत्कल या कलिङ्ग (आधुनिक उड़ीसा) – भुवनेश्वर, कोनार्क तथा पुरी ,

२ प्रतिहारी गूर्जरों एवं चंदेलों की देन बुन्देल खण्ड बघेल खण्ड ,

३ कलचुरियों एवं परमारों की वदान्यता —मध्यभारत एवं राजस्थान एवं उदयपुर ग्वालियर आदि,

४ सोलंकी राजवंश का परम अभियान—गुजरात (लाट) तथा काठियावाड़

५ हेमदपन्त के द्वारा प्रोल्लसित प्रासाद सुदूर दक्षिण — (खान देश)

६ *साधारणजनों की भावना में मथुरा-वृन्दावन -प्रोल्लास*

उत्तर भारत—उत्तरापथीय महाविशाल प्रसाद-क्षेत्र की ओर

उपोद्घात—सर्व प्रथम एक बड़ी गहन गवेषणात्मक मीमांसा यह करनी है कि उत्तरापथ की स्थापत्य शैली, जिसको नागर शैली के रूप में विभावित किया गया है, उसका जन्म, विकास कैसे प्रादुर्भाव हुआ? पुरातत्वीय अन्वेषणों में प्राप्त सामग्री के आधार पर भारतीय स्थापत्य-कला में सर्वप्राचीन तथा सर्वप्रमुख निदर्शन भीटर गाव का मंदिर माना जाता है। इस मन्दिर का निर्माण ईसवीय शताब्दी के प्रारम्भ में निर्मित माना जाता है। यह मन्दिर एष्टिक वास्तु का सर्वप्रचीन निदर्शन है। यह प्रारम्भ एक-मात्र इसी क्षेत्र में सीमित नहीं। अतः उत्तर भारत के प्राचीन इतिहास में निम्नलिखित तीन क्षेत्र विशेष माने जाते हैं—

अ—भीटर गाव—उत्तर-प्रदेश कानपुर तथा निकटीय क्षेत्र

ब—सीरपुर तथा खरोद (जिला रायपुर) मध्यप्रदेश,

स—तेर—शोलापुर (महाराष्ट्र) के निकटीय।

भीटर गाव का मन्दिर—पाचवी शताब्दी में निर्मित माना गया है और इसे एक अत्यन्त विलक्षण एवं प्रकृष्ट शैली में एकमात्र निदर्शन प्रकल्पित किया गया है। पुरातत्वीय दृष्टि से नागर-शैली का यह प्रथम निदर्शन है।

उत्तरापथीय स्थापत्य-कला के विकास का प्रथम श्रेय गुप्त नरेशों को दिया गया है परन्तु गुप्तों के सर्वाधिक समृद्ध काल में प्रोल्लसित प्रासाद-कला की समीक्षा के समक्ष हमें एक यथापूर्व-सकेतित विषय की समीक्षा भी करना आवश्यक है। यह नागर-शैली में विशिष्ट विकास-परम्परा अर्थात् निखरोत्तम-प्रासाद का कैसे जन्म हुआ और किस को श्रेय है। आधुनिक विद्वानों ने गुप्तों और पल्लवों को उत्तरापथ और दक्षिणापथ की क्रमशः प्रासाद-कला के उन्नायक-प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। जिस प्रकार उत्तर में गुप्तों की नई

अवतारण नये आविर्भाव (new emergences)। उसी प्रकार दक्षिण में पल्लवों के द्वारा इन्हीं अवतारणाओं के आविर्भाव माने जाते हैं। जब आधुनिक विद्वानों ने यह भी स्वीकार किया है कि उत्तरापथ के इस गुप्तकालीन स्थापत्य में सीथियन तथा हैलेनिस्टिक प्रभाव नया प्रयत्न घटक हैं अर्थात् विदेशी प्रभाव स्वीकृत हैं पुनश्च चालुक्यों पल्लवों की कला में कोई विदेशी प्रभाव नहीं माना गया है तो फिर सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि प्रासाद-कला – विशेषकर शिखरोत्तम तथा भौमिक विमानों के विकास में कौन अनुज है और कौन अनुज नहीं है। दक्षिण का वास्तु तथा शिल्प पूर्ण रूप से पौराणिक विचार, धर्म एवं भक्ति का अनुवाद है। यद्यपि जैसा हमने पहले भी संकेत किया है कि जहाँ शैवों और वैष्णवों का संघर्ष था वहाँ इस पुराण-गंगा ने ही यह पारस्परिक विरोध का उन्मूलन कर तीर्थ-राज प्रयाग की गंगा-यमुना की संगम-धारा के अनुरूप धार्मिक आस्था एवं भक्ति-भावना तथा समन्वय (synthesis) प्रादुर्भूत कर दिया। यह समन्वय सार्वजनिक धार्मिक सम्प्रदाय को है जिसका पथ-प्रदर्शन नायनार तथा आलवार संतों ने किया था।

अब पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि दाक्षिणात्य और उत्तरापथीय इस प्रासाद-कला के उद्भावक कौन थे? जहाँ तक दक्षिण की बात है उसके सम्बन्ध में बहुत से विद्वानों ने (विशेषकर ह गोट्स) पल्लवों को ही प्रथम उन्नायक माना है। मेरी दृष्टि में यह धारणा ठीक नहीं है। मैं तो और भी आगे जाना चाहता हूँ कि चालुक्य ही उत्तरापथीय और दक्षिणापथीय दोनों शैलियों के प्रथम उन्नायक तथा प्रतिष्ठापक हैं। जिस प्रकार से उत्तर भारत में तथा मध्य भारत में गुप्तकाल में प्रासाद कला का उदय हुआ उसी प्रकार दक्षिण भारत में भी यह उदय चालुक्यों का श्रेय है। आदि चालुक्यों की प्रथम राजधानियों में आयोहल तथा बादामी में जो प्रासाद निदर्शन प्राप्त होते हैं उनमें सर्व प्रमुख (दे० इण्डियन आरकीटेक्चर पेज, १०१) जो उन्होंने विवेचन किया है वह भी मेरी समीक्षा का पूर्ण पोषण करता है।

'A type of temple in a primitive Indo-Aryan style had begun to appear as far south as in the territory of the Chaulukyans as early as the sixth century A D, implying that it may have originated in that quarter That there can have been any direct

connection between the early Chalukyan structures on the south-west, and the temples of Ganjam on the east is somewhat improbable but the fact remains that certain architectural affinities are observable which suggest a linking up of the temple design in these two divergent places If such a correlation is admitted, it may be traced to the political contract which no doubt existed between the Ganga Kings of Western India on the one hand, and the Ganga dynasty of Kalinganara, now the modern Mukhalingam, on the other It was from their capital in Ganjam that the country of Kalinga at present called Orissa, was administered by the Eastern Gangas from about A D 600 By some such means the cultural activities of the Early Chalukyans may have been conveyed to this region on the east where, begining from the eighth century certain architectural forms appear, which bear a resemblance to those produced slightly earlier at Aihole and Pattadakal '
Indian Architecture —Buddhist & Hindu Period—P Brown -n ed
p 101

इस प्रकार से हम महाभारत की इन दोनों शैलियों का यद्यपि समानान्तर प्रसार दोनों प्रदेशों पर होता रहा है, तथापि उपर्युक्त अवतरण से यह सिद्ध हो जाता है कि चालुक्यों का नागर-शैली के उन्नयन और विकास में बड़ा योगदान है। आयोहल और बादामी में उत्थित दुर्गा-मन्दिर तथा लादखान इन दोनों में शिखर और मंडप प्राचीनतम निदर्शन हैं।

इस समीक्षा के उपरान्त अब हम उत्तरापथीय वास्तु-कला का क्षेत्रानुरूप मूल्यांकन करेंगे। दाक्षिणात्य वास्तु-कला के क्षेत्र से उत्तरापथीय वास्तु-शैली नागर-शैली का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और लम्बा है। दक्षिण देश की प्रासाद-कला का उदय विशेष कर उस देश के मण्डलेश्वरों के राज-पीठों में ही हुआ। अतः वहाँ की कला का वर्णन राजवंशानुक्रम (Dynastically) में विशेष सुविधापूर्ण है, परन्तु उत्तर-भारत में इतस्ततः नाना प्रासादों का निर्माण हुआ और उनके निर्माण में भी यद्यपि राजाश्रय प्रधान था परन्तु जनाश्रय भी कम न था। अतः उत्तरी प्रासाद-कला को राजवंशानुक्रम से ऐतिहासिकों ने

समीक्षा करने मे कठिनता अनुभव की है । तदनुरूप स्थानीय केन्द्रो से इस शैली का विवेचन किया गया ।

उत्तर भारत की प्रासाद-कला के इस स्थानीय विकास (local developments) के अनुरूप स्थानीय-कला-केन्द्रो का निम्नलिखित षड्वर्ग समुपस्थित किया जाता है —

१—उत्कल या कलिंग (आधुनिक उडीसा)—भुवनेश्वर, कोनार्क तथा पुरी,
२ –बुन्देलखण्ड—खजुराहो,
३—मध्य भारत एव राजस्थान,
४—*गुजरात (लाट) तथा काठियावाड,*
५—सुदूर दक्षिण (खान-देश),
६—मथुरा-वृन्दावन ।

स्थानानुषङ्ग के प्राधान्य का सकेत करने पर भी हम राजवशानुक्रम को भी नही छोड सकेंगे । अस्तु, इस स्वल्प उपोद्घात के अनन्तर अब हमें कुछ थोडी सी और भी मीमासा करनी है ।

आधुनिक विद्वानो ने प्रतीहारो का कोई विशेष रूप मे सकेत नही किया है । प्रतीहारो का राज्य पूर्व-मध्यकाल मे कन्नौज, गुजरात तथा राजस्थान मे फैला हुआ था । ये प्रतीहार कान्यकुब्ज (कन्नौज) के सम्राट् थे और गुर्जर-जातियो एव राज पुतो के भी ये ही उस समय शासक थे । राजपूत वश इन्ही प्रतीहारो से ही उतरे । इन वशो को गुर्जर-प्रतीहार, चाहमान, कच्छपघट, चापोत्कट (आधुनिक छावडा) सोलकी, परमार, चन्द्रात्रेय, कलचुरि-हैहय के नाम से कीर्तन किया गया । यहा पर इन प्रतीहारो की धार्मिक, आस्था तथा कला-प्रियता की ओर कुछ सकेत करना आवश्यक है । ये लोग गोरख-नाथ पथ के रहस्यवाद की ओर वैयक्तिक दृष्टि से जरुर आस्था रखते थे लेकिन इनका सब से बडा श्रेय प्रासादो की प्रतिष्ठा और निर्माणो मे कुछ नई उद्‌भावनाएँ प्रारम्भ कर दी । यह उद्‌भावना प्रासाद-विन्यास से सम्बन्ध रखता है । उत्तरापथीय प्रासादो विशेषकर निरन्धारो की ही विशेषता थी, परन्तु इनके युग मे शिल्प-शास्त्र-दिशा से सान्धार प्रासादो का भी विकास प्रारम्भ हो गया । सान्धार का अर्थ है गर्भगृह के चारो

और प्रदक्षिणापथ का अनिवार्य निर्माण। दूसरी विशेषता इनके साम्राज्य में पुराणों की पचायतन-परम्परा प्रारम्भ हो गई। जिस प्रकार दक्षिण मे शिव-पूजा, विष्णु-पूजा समान-भक्ति-अभिनिवेश से चलने लगी थी, उसी तरह यहा पर भी वह आस्था पल्लवित हो गयी। निरन्धार प्रासादो मे एक-मात्र पूज्य देवता की ही प्रतिष्ठा हो सकती थी, परन्तु सान्धार-प्रासादों के लिए विन्यासापेक्ष्य उत्तुग एव विशाल तथा लम्बी चौडी जगती अथवा पीठ की आवश्यकता थी तो फिर चारो ओर परिवार-देवालय तथा पचायतन-परम्परा के अनुरूप अन्य देवो एव देवियों के भी मन्दिर बनने लगे। इस दृष्टि मे हरमन गोट्स की यह उद्भावना पूर्ण रुप से पोषित होती है :—

"This fully developed mediaeval temple cathedral stands on a vast platform (medhi) and consists of several buildings: a flight of steps (nal), and open pillared hall enclosed by a balustrade (ardha or nal-mandapa), a closed cult-hall (gudha-mandapa) opening only into a few balconies, dark porch (antarala, mukhamandapa) and the shrine (prasada) surrounded by a circumambulatory passage (pradaksinapatha, bhrama) with three balconies of pillars standing on a balustrade (vedi). The open hall (natya-mandapa, sabha-mandapa), reserved for the performance of the dancing girls (devadasis), and the ritual dining-hall that is occasionally found (bhoga-mandapa) are sometimes separate buildings. To these have to be added, also as separate structures, subsidiary temples, triumphal arches (torana) and holy baths (kunda, especially fon the sun-god). All these temple-rooms are raised on a high recending plinth (pitha) within very thick walls (Mandovara) and are surmounted by a huge sikhara and a pyramidal roof. The walls are broken up into system of pilastars (jangha) alternat-

ing with narrow recesses which are constitued above the cornice (chhajja) as subsidiary sikharas (paga) flanking the central sikhara Horizontally these pilaster walls are divided into the plinth (pitha) consisting of a series of friezes of demonmasks (giras pati) animals (asvasthara and gajathara) and scenes from human life (narathara), all between various richly decorated angular or rounded mouldings (ban dhana) On the level of the shrine and cult halls, niches and brackets project from the walls carrying the figures of the principal gods and of the Parivara devatas accompanied by innunerable heavenly nymphs (surasundari) eaves and pediments from the transition to the cornice (chajja) above which the sikharas and subsidiary sikharas rise like a huge mountain range to the copying stone (amalaka) And in fact the whole building complex forms one integral unit ascending from hill to mountain and at last to the highest peak of the World Mountain above the principal shrine In the interior massive comlumns (stambha) support an octagonal entablature of brackets sculptured with divine dancing girls or cusped arches on which the low corbelled dome rests decorated with circle upon circle of floral bands and flying gods or with radiating ribs of heavenly nymphs The pillars themselves are arcaded towers in miniature in which gods and heavenly dancers posture The walls are covered with image niches and images in consoles The shrine entrance follows the same schemes as in the late Gupta period but friezes and statues have multiplied Prof S Kramrisch has

more characterstically outlined these mediaeval temples of North India in her—"Hindu Temple"

अस्तु इस उद्भावना के उपरान्त अब यह भी सकेत करना है कि ज्योंही प्रतीहारो का साम्राज्य छिन्न हो गया तो नाना राजवश माण्डलिक नरेशा के रूप म उदय हो गये। जिस प्रकार योरेप म मध्यकालीन इतिहास मे एक बिल्डिग-मेनिया प्रारम्भ हुई उसी प्रकार से इस महादेश मे भी मही प्रासाद मेनिया प्रादुर्भूत हो गई। भुवनेश्वर का लिंगराज, खजुराहो का कन्दरिया महादेव, उदयपुर व उदयेश्वर आदि आदि जगत् विश्रुत प्रासाद आज भी अपनी आभा से प्राचीन वास्तु-कला की गरिमा से जगमगा रहे है। यह साम्राज्य लगभग १ राजवश म ,बखर गया, जिनका उल्लेख यहा पर आवश्यक नही है। अब हम स्वल्प राजवशानुषङ्ग मे ही यथा सकेतित उत्तरापथीय पड् प्रासाद-मण्डलो का भ्रमण कर इस सागर को गागर मे कवलित करने की चेष्टा करेंगे।



केसरी राजाओं के वास्तु-पीठ—उत्कल या कलिंग (आधुनिक उड़ीसा)

उत्तरी-शैली की कला-कृतियों में सर्वप्रथम सर्वोत्तम केसरी राजाओं का रान पीठ भुवनेश्वर है। भुवनेश्वर (उड़ीसा) के धर्म क्षेत्र पर हम पूर्व अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। भुवनेश्वर की कीर्तिपताका को दिग्दिगन्त में उड़ाने का श्रेय लिंगराज के मन्दिर को है।

भुवनेश्वर केसरी राजाओं की राजधानी रहा है। केसरी राजाओं की, चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ११वीं शताब्दी तक उड़ीसा-मण्डल की मन्दिर माला के अतिरिक्त २ मन्दिर और विशेष विख्यात हैं – कोनार्क का सूर्य-मन्दिर तथा पुरी का श्रीजगन्नाथ जी का मन्दिर। अतः पहले हम भुवनेश्वर को लेते हैं।

उड़ीसा मण्डलीय प्रासादों की तालिका सर्वप्रथम हम कालानुरूप उपस्थित करते हैं तभी भुवनेश्वर को ले सकते हैं —

पूर्व मध्यकालीन ७५० ६०० ई०।

मन्दिरमाला	स्थान
परशुरामेश्वर	भुवनेश्वर
वैताल दुएल	,,
उत्तरेश्वर	,,
ईश्वरेश्वर	,,
शत्रु गणेश्वर	,,
भरतेश्वर	,,
लक्ष्मणेश्वर	,,

मध्यकालीन ६००-११०० ई०

मुक्तेश्वर	ई० ६७५	भुवनेश्वर
लिंगराज	,, १०००	,,
ब्रह्मेश्वर	,, १२७५	,,

रामेश्वर	,, १०७५	,,
जगन्नाथ	,, ११००	पुरी

उत्तर मध्यकालीन ई० ११००-१२५० ई०

आनन्दवासुदेव	भुवनेश्वर
सिद्धेश्वर	,,
केदारेश्वर	,,
यमेश्वर	,,
मेघेश्वर	,,
सारीदुएल	,,
राजरानी	,,
सूर्य-मन्दिर	कोनार्क १२५० ई०

(अ) भुवनेश्वर—नागर शैली की स्थापत्य कला का अनूठा और विशुद्ध केन्द्र है। यहा के प्रासाद-वास्तु के दो भाग हैं-विमान और जगमोहन। विमान से तात्पर्य केन्द्रीय मन्दिर और जगमोहन से मण्डप। किन्ही किन्हीं मन्दिरो मे इन दो प्रधान निवेशो के अतिरिक्त दो और निवेश भी हैं जिन्हे नाट्य-मन्दिर और भोग मन्दिर कहते हैं। उडीसा-मण्डल मे तीन मुख्य मन्दिर हैं—भुवनेश्वर म लिंगराज का मन्दिर, पुरी मे श्री जगन्नाथ जी का मन्दिर और कोणार्क मे श्री सूर्यनारायण का मन्दिर।

लिंगराज मदिर के पूर्व मे स्थित सहस्रलिंग तालाब के चारो ओर लगभग १०० मदिर हैं जिनमे ७७ अब भी सुरक्षित हैं। लिंगराज के ही उत्तर मे बिंदु-सागर नामक विशाल तडाग है जिसके बीच मे एक टापू है और वहा एक सुन्दर मदिर दर्शनीय है। इसी प्रकार अन्य प्रमुख मदिरो के अपने अपने तीर्थ-जलाशय हैं—यमेश्वर ताल, रामेश्वर ताल, गौरी-कुण्ड केदारेश्वर ताल, चलधुमा-कुण्ड तथा मरीचि-कुण्ड आदि।

भुवनेश्वर की मदिर-माला बडी लम्बी है। उसके गुम्फन मे लगभग दो तीन सौ वर्ष (१०वी से १२वी शताब्दी) लगे होंगे। केसरी राजाओ के इस राज-पीठ मे स्थापत्य-कला के प्रोज्ज्वल प्रकर्ष के लिये जो राज्याश्रय मिला उसी को श्रेय है कि ऐसे विलक्षण अद्भुत एव अनुपम मदिर बने। कहा जाता है कि केसरी राजाओ ने इस स्थान पर ७,००० मदिर बनवाये जो ७वी

शताब्दी मे लेकर ११वी शताब्दी तक निर्मित होते रहे । अब भी भुवनेश्वर और उनके आस पास ५० मदिर है जिनमे निम्न विशेष उल्लखनीय है —

१	भुवनेश्वर	१४	सावित्री
२	केदारेश्वर	१५	लिंगराज सारिदेवल
३	सिद्धेश्वर	१६	सोमेश्वर
४	परशुरामेश्वर	१७	यमेश्वर
५	गौरी	१८	कोटितीर्थेश्वर
६	उत्तरेश्वर	१६	हटकेश्वर
७	भास्करेश्वर	२०	कपालमोचन
८	राजरानी	२१	रामेश्वर
६	नागेश्वर	२२	गौरीश्वर
१०	ब्रह्मेश्वर	२३.	मक्तिरेश्वर
११	मेघेश्वर	२४	कपिलेश्वर
१२.	अनन्तवासुदेव	२५	वरूणेश्वर
१३	गोपालिनी	२६	चक्रेश्वर आदि आदि ।

अस्तु, उडीसा-मण्डलीय इन प्रमुख तीनो महामन्दिर-पीठो—भुवनेश्वर, कोनाक तथा पुरी—के इस स्वल्प-सकीर्तनापरान्त हम अन्त मे इस शैली के सम्बन्ध मे अवश्य निर्णय करेंगे ।

पुरी—जगन्नाथ —पुरी के जगन्नाथ जी के मन्दिर के निर्माण-काल एव कारक-यजमान पर भी ऐतिहासिको मे मतभेद है । श्री मनमोहन चक्रवर्ती (see his paper on the date of Jagannath Temple in Puri—J. A. S. B., vol 67 for 1898, pt 1 pp 328-331) ने निम्नलिखित श्लोक —

प्रासा पुरुषोत्तमस्य नृपति को नाम कर्तुं क्षम—

स्तस्येत्याद्य नृपैरुपेक्षितमय चक्रेऽथ गगेश्वर ।। (गगावश ताम्रपत्र) के आधार पर इस प्रासाद को गगेश्वर (गोडगग) का बनवाया हुआ बताते हैं। यत गोडगग का राज्याभिषेक १०७८ ई० मे हुआ था अत इस मन्दिर की तिथि १०८५–१०६० मनमोहन ने मानी है। इसके विपरीत डा० डी० सी० सरकार (God Purusottama at Puri— J O. R., Madras

vol 17 pp 209-215) ने उडिया के प्रख्यात पुराण (Chronicle) मादला पान्जी के अनुसार इस प्रासाद के निर्माण का श्रेय गोडगग को न दे कर उसके दरपोते (great grandson) अनगभीम तृतीय को देते हैं। मित्र तथा हन्टर महाशय (Cf 'Antiquities of Orissa Vol II pp 109—110 and Orissa Vol I pp 100—102) भी इसी मत को पोषण करते हैं तथा निम्न श्लोक का प्रामाण्य प्रस्तुत करते हैं —

शकाब्दे रन्ध्रशुभ्रांशुरूपनक्षत्रनायके ।
प्रासाद कारयामासानगभीमेन धीमता ॥

(Also see—History of Orissa'—by Dr R D. Bannerjee) अस्तु इस ऐतिहासिक प्रामाण्य के अतिरिक्त पौराणिक प्रामाण्य के आधार पर (दे० पीछे का अध्याय) यह मन्दिर अति प्राचीन है और इसका कई बार जीर्णोद्धार कराया गया है। इसकी मूर्तियां तो निस्सन्दिग्ध प्राचीन हैं—सम्भवत ईशवीयोत्तर तृतीय शतक की। मुसलमानों ने इस पर कई बार आक्रमण किये तथा इसे ध्वस्त किया। कहा जाता है कि १६वीं शताब्दी में मराठों ने इसके जीर्णोद्धार में योग दिया था।

इस मन्दिर की वास्तु कला पर बौद्ध प्रभाव परिलक्षित है। बौद्धों के त्रि-रत्न—बुद्ध धर्म और सघ की भांति इस मन्दिर में जगन्नाथ, सुभद्रा और बलराम की मूर्तियां हैं। शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी और ब्रह्मा-सावित्री आदि का स्थापत्यांकन अथवा चित्राकन पुरुष और प्रकृति के रूप में हुआ है, तब यह भाई बहिन का योग बौद्धों के प्रभाव का स्मारक है—बौद्ध, धर्म को स्त्री-सम्भक मानते हैं। अस्तु पुरी के जगन्नाथ-मंदिर के अतिरिक्त मुक्ति मडप, विमला देवी का मंदिर, लक्ष्मी-मंदिर धर्मराज (सूर्यनारायण) का मंदिर, पातालेश्वर, लोकनाथ मार्कण्डेयेश्वर, सत्यवादी आदि मंदिर विशेष प्रसिद्ध हैं।

(स) कोणार्क—सूर्य-मन्दिर-कोणार्क एक क्षेत्र है। इसे अर्क-क्षेत्र अथवा पद्म-क्षेत्र कहते हैं। निकट ही बगाल की खाडी की उत्ताल तरगो मे उपकण्ठ भूमि उद्वेलित रहती है और मन्दिर के उत्तर में आध मील पर चन्द्रभागा नदी बहती है।

कोणार्क-मन्दिर किसने बनवाया—असन्दिग्ध रूप से निर्णीत नहीं। भुवनेश्वर से ३५ मील तथा पुरी से २१ मील की दूरी पर समुद्र की वेला पर विराजमान यह दिव्य प्रासाद सम्भवत ६ वीं शताब्दी तक अपनी पूर्ण ऊर्जस्विता एव कलेवरता में विद्-

मान था क्योंकि आधुनिक रूप तो भग्नावशेष ही है—विमान ध्वस्त है, जगमोहन की ही मोहनी छटा पर मुग्ध हो कर कला के मर्मज्ञों ने इसे भारतवर्ष की ही नहीं ऐशिया महाद्वीप की महाविभूति माना है। लगभग ३०० वर्ष तक यह बालू के ढेर मे ढका हुआ पड़ा रहा। भारत सरकार ने कई लाख रुपिये लगाकर इसका जीर्णोद्धार कराया था। तब लोगों को इस महिमामय वास्तुरत्न की परीक्षा का अवसर मिला। इसकी वास्तु-कला एवं अन्य विभिन्न विवरण स्वल्प मे ही प्रस्तुत हो सकेंगे।

इस अनुपम मन्दिर को हम एकमात्र वास्तवाकृति ही नही मानेंगे—यह शिल्प एवं चित्र दोनो की अनुपम आकृति निभालनीय है। पौराणिक आख्यान *एवं लोक-विश्वास मे भगवान् भास्कर सदैव रथ मे विराजमान उदित एवं अस्त* होते हैं। इन के रथ मे सात घोड़े होते हैं, इनका सारथि अरुण है। इसी अनीतिम्यान का अनुवाद इस महावास्तु में परिणत कर दिया गया है। रथ-यान *पर आरूढ़ यह मन्दिर है, अश्वो का चित्रण दर्शनीय है। रथ-यान गर्भ-गृह*-सम्मुखीन निर्मित है।

इस स्वल्प सकीर्तन के बाद पाठकों की जिज्ञासा का समाधान आवश्यक है। कोनार्क के सूर्य-मन्दिर के बाह्य कलेवर—मण्डोवर, स्कन्ध, ग्रीवा, *शिखर आदि पर उत्कीर्ण अश्लील मूर्तियों का क्या प्रयोजन था। गोट्स महोदय* ने इस पर यह समीक्षा की है कि यत सान्धार-प्रासादो एवं भौमिक विमानो मे जब नाना विस्तार-प्रसार विकसित हुए तो अनायास नाट्य, नृत्य आदि मण्डपों मे देवदासियां, नर्तकियां मन्दिर-देवता के लिये समर्पित कर दी गयी थीं; अत इन्हीं नर्तकियों के अश्लील चित्रण एक-मात्र अप्रबुद्ध स्थपति (apperentice artisian-masan-architect) के द्वारा यह सम्भवत सम्पादित किया गया है। ऐसे चित्रण कन्दरीय महादेव (कन्डरिया महादव) खजुराहो, मीनाक्षी सुन्दरेश्वर मदुरा आदि प्रासाद-पीठो पर भी यह अश्लील चित्रण भी उद्‌ङ्कित किये गये हैं। अत मेरी दृष्टि मे यह प्रभाव तान्त्रिकों का ही है जो उत्तर-मध्य कालीन-युग मे यह एक महाधारा वह निकली थी। इस ने बौद्धो को भी पूरी तरह से अभिभूत कर दिया था, ब्राह्मण तो अपने आप ही इसके महा अनुयायी थे।

तिब्बत के याबयूम चित्रणों से हम परिचित ही हैं। कामाख्या आसाम से भी परिचित ही है, अत यह न केवल भारतीय वरन् बृहत्तर भारतीय प्रभाव है।

अस्तु, केशरी राजाओ ने लगभग ७०० वर्ष एव चौवालिस पीढियो तक उत्कल प्रदेश पर राज्य किया। ययाति (८वी श०) नामक राजा के राज्य-काल मे हिन्दू धर्म ऐव हिन्दू सस्कृति के उत्थान के साथ-साथ हिन्दू-मन्दिरो का निर्माण-वैभव प्रारम्भ हुआ। हर्ष का विषय है कि भुवनेश्वर की प्रचीन गरिमा एव भौगोलिक महिमा (जलवायु आदि) को दृष्टि मे रखकर आधुनिक शासन ने भी उडीसा की राजधानी के लिये इसे ही उपयुक्त समझा।

अस्तु, इन साधारण विवरणो के उपरान्त अब हम प्रासाद-कला की विशेषताओ पर आ रहे है। शिखरोत्तम प्रासाद का प्रारम्भ हम आयोहल मे पहले ही कर चुके हैं। शिखरो के विन्यास विकास और प्रोल्लास का पूर्ण अवसान इस मडल में निभालनीय है। मजरी-शिखर भुवनेश्वर की सर्वप्रमुख विशेषता है। मूलमञ्जरी, उरोमञ्जरी तथा नाना रथो और रथिकाओ की विच्छित्ति और वैभव तथा अलकृति पराकाष्ठा प्राप्त कर चुकी है। हमने अपने शास्त्रीय अध्ययन मे शिखरो की नाना श्रेणियो का वर्णन किया है—मजरी-शिखर, लता-शिखर, अडक-शिखर आदि आदि। इसी प्रख्यात प्रासाद-पीठ से अडक-शिखर की वर्तना प्रारम्भ हुई है। लिंगराज (एकाडक-शिखर) तथा खजुराहो के कन्दरीय महादेव मे यह किलास पूर्ण प्राप्त होता है। भुवनेश्वर का राजरानी मन्दिर ही खजुराहो का अग्रज माना जाता है। आजकल के विद्वानो ने यह भी माना है कि उडीसा की अपनी नई शैली है जिसमे प्रासाद-विन्यास के ४ प्रमुख अंग हैं —

१—दूयूल अथवा शिव-मन्दिर अर्थात् गर्भ-गृह (विमान)
२—सभा-मडप अथवा जगमोहन
३ नृत्य-शाला अर्थात् नट-मन्दिर तथा
४—भोग मन्दिर।

लिंग-राज इन मन्दिर-विन्यासो का प्रतीक है। समरागण-सूत्रधार की परिभाषा मे मेरी दृष्टि मे भुवनेश्वर के मन्दिर विशेषकर लिंगाज को एकाडक शिखर मे गतार्थ करना व्यापक समीक्षा नही है। यह तो मेरी दृष्टि मे सताधंग का अनुपम उदाहरण है। समरागण-सूत्रधार मे लतिन प्रासादो की

सज्ञा भी प्राप्त होती है और प्रसिद्ध लेखक डा० क्रैमरिश अपने हिन्दू टेम्पिल (दे० पृ० २१५ फुट नोट ६८) में जो उद्भावना की है वह सर्वथा सगत है —

"The Orissan variety of the Rekha temple of the Nagara class would thus most perfectly be a Latina temple see details in Hindu Temple, P 216'

इस दृष्टि से हमने जो आदि चालुक्यो की समीक्षा में शिखरो के उदय मे उनकी देन की समीक्षा की है वह सर्वथा सार्थक है। शिखरोत्तम प्रासादो का आयोहल से जो प्रारम्भ होता हुआ भुवनेश्वर पर अपना आधिराज्य स्थापित कर मध्य भारत खजुराहो आदि प्रासादो के पीठों पर प्रत्यवसायित हुआ वह ठीक है—मेरे पुत्र डा० ललित कुमार शुक्ल ने भी जो अपनी Ph. D Thesis (A study of Hindu art and architecture with esp ref to Terminology) में जो यह निम्न समीक्षा की है, वह भी बडी सायर एव ब्राउन की समर्थक भी है-—

The Muktesvara temple is regarded to be the most beautiful of all Orissan temples but the most graceful and elegant example of this period is Rajarani temple whose affinity with the Sikharottamas of Khajuraho is a land mark in the contention that the Nagara style of temple architecture as illustrated in the temples of Bhuvanesvara and Khaju raho, have a common fountain and are a manifestation of one movement which had its begining from its southern extremity of Ganjam within the old Mad ras Presidency to its northern off shoot in the state of Mayurbhanja having its ramifications in the territory of Chalukya, the last of which shows the political contact between the Ganga kings of Western India and the Ganga Dynasty of Kalinganara the modern Mukhalingam which brought this manifestation of an all India composite style of temple architecture'

— o —

चन्देलों का वास्तु-पीठ-खजुराहो—बुन्देल-खण्ड-मण्डल

खजुराहो इस समय एक छोटा सा गाव है, परन्तु किसी समय यह जभोति (यजुर्होती) प्रान्त की राजधानी थी। यह स्थान विद्या और वैभव का अनूठा स्थान था। सम्भवत यजुर्होती इस शब्द से ही बुन्देलखण्ड का प्राचीन नाम जेजाकभुक्ति पडा। चन्देल-राज-वशीय राजन्यो मे यशोवर्मन एव उसके पुत्र धगदेव का विशेष गौरव है जिन्होने इस राजवश की नीव को सुदृढ बनाने मे कसर न रक्खी।

महोबा के चन्देल राजपूत राजा चन्द्रवर्मा ने आठवी शताब्दी मे चन्देल राज्य की नीव डाली थी। ८ वी से लगाकर लगभग १६ वी शताब्दी तक चन्देलो का प्रभुत्व रहा। चन्देलो का मुख्य स्थान कालिञ्जर का दुर्ग था और निवास-स्थान महोबा। खजुराहो को उन्होने अपना वास्तु-पीठ या प्रासाद-पीठ चुना था।

बुन्देलखण्ड-मण्डल का शिल्प कला का प्रतिनिधि ही नही सर्वस्व खजुराहो के मन्दिर हैं। इनमे कडरिया (कन्दरीय) महादेव का मन्दिर सर्वप्रख्यात एवं सबसे विशाल है। इस मन्दिर को अनुमानत: दसवीं शताब्दी मे राजा धगदेव ने बनवाया। कहा जाता है कि निनोरा ताल, खजुराहो गाव और निकटवर्ती शिव-सागर पुष्करिणी के इतस्तत प्राचीन समय मे ८५ मन्दिर थे। उनमे मे अब लगभग तीस मन्दिर विद्यमान हैं।

चन्देलो की इस पवित्र भूमि के इतिहास मे विदित होता है कि चन्देल शैव होते हुए भी उन्होने अन्य धर्मों एव सम्प्रदायो के प्रति सराहनीय सहिष्णुता बरती। वैष्णव-धर्म, जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म सभी के स्मारक-चिन्ह यहा पर विराजमान हैं। इन सभी धर्मों के अनुरूप यहा पर मनोरम मन्दिर देखने को मिलेंगे। खजुराहो के विद्यमान प्रासादो के अन्यतम निदर्शनों की पुष्प-मालिका के सौरभ का आनन्द पाठको के सम्मुख रखते हैं।

इस मण्डल के मुकुट-मणि खजुराहो के मन्दिर हैं। खजुराहो महोबा से ३४ मील दक्षिण और छतरपुर से २७ मील पूर्व है। इलौरा-मन्दिर-पीठ के समान खजुराहो भी सर्व-धर्म सहिष्णुता का एक अन्यतम निदर्शन है। यहां पर वैष्णव धर्म, शैव धर्म और जैन-धर्म आदि विभिन्न मतों के अनुयायियों ने पूरी स्वतन्त्रता से अपने मन्दिर निर्माण किये हैं। इससे यह विदित होता है कि चन्देल राजाओं ने, शैव होते हुए भी अन्य सम्प्रदायों के प्रति सराहनीय धार्मिक सहिष्णुता दिखाई। निनोरा ताल, खजुराहो गाव (जो पहले एक बड़ा नगर था) एवं निकट-स्थित शिव सागर झील के इतस्ततः फैले हुए प्राचीन समय मे ८५ मन्दिर थे जिनम अब भी २० ही शेष रह गये हैं। इनमें निम्न-लिखित विशेष प्रसिद्ध हैं :—

१— चौसठ योगनियों का मन्दिर (९वीं शताब्दी),

२. कंडरिया (कन्दरीय) महादेव—यह सर्वश्रेष्ठ है—विशालकाय, प्रोत्तुंग, मण्डपादि-युक्त चित्रादि 'Sculptures)-विन्यास-मण्डित,

३ लक्ष्मण-मन्दिर—निर्माण-कला अत्यन्य सुन्दर,

४ मतंगेश्वर महादेव—इसमें बड़े ही चमकदार पत्थरों का प्रयोग हुआ है। मन्दिर के सामने वाराह-मूर्ति और पृथ्वी-मूर्ति, जो अब ध्वसावशेष हैं,

६ हनुमान का मंदिर,

६ जवारि मंदिर मे चतुर्भुज भगवान् विष्णु की मूर्ति है।

७ दूला-देव-मन्दिर—इस नाम की परम्परा है—एकदा एक बारात इस मंदिर के सामने से निकली तत्क्षण वर जो नीचे गिर कर परम धाम पहुंच गये तभी से इसका नाम दूला-देव मंदिर हो गया।

अस्तु इस स्थूल विवरणों के उपरान्त हमे थोडा सा इस प्रमुख-क्षेत्रीय प्रासाद पीठ के अतिरिक्त और भी अन्य-क्षेत्रीय प्रासाद-पीठों पर कुछ संकेत भी आवश्यक—सुरवाया, ग्वालियर के दक्षिण मे सुन्दर मन्दिर तथा बुन्देल-खण्ड, के चन्देल राजाओं की पर्वतीय राजधानियों महोवा तथा कालिञ्जर आदि मे वैष्णव-मन्दिरों तथा हैह्य कलचुरी मन्दिरों के भग्नावशेष बुन्देलखण्ड के दक्षिण और चन्देरहा, बिल्हारी, तिवारी (त्रिपुरी) और सोहागपुर मे भी ये उल्लेखनीय हैं।

पूर्व संकेतित प्रतीहार-वंशीय राजाओं में ही चौहान-कला भी विकसित हुई। यह चौहान कला प्रतीहार-शैली से पूर्ण आस्था में बनाये रखी। इस चौहान-कला में दसवीं शताब्दी का हर्षनाद-मन्दिर (शेखावाटी) विलासपुर, बरौली, मेवाड़—ओसिया, किराडू के मन्दिर भी इसी चौहान-कला का प्रतिनिधित्व करते हैं। अस्तु अब हम राजस्थान और मध्यभारत की ओर आते हैं।

चाहमान अथवा चौहान नरेशों की कला का कुछ संकीर्तन हो ही चुका है। पूर्व संकेति प्रतीहारवंशीय उत्तरवर्ती राजाओं एवं माण्डलिकों को भी हम नहीं भुला सकते। इनका प्रसार मध्य भारत में भी फैल गया था विशेष कर ग्वालियर में। ग्वालियर के सहस्त्रबाहु मन्दिर (सासबहू—अपभ्रंश) का श्रेय कच्छपघटों को है जो हम आगे—मध्य भारत तथा राजपूताना—के स्तम्भ में प्रकाश डालेंगे।

इसी प्रकार प्रतीहारीय उद्भवों में गहड़वालों को भी नहीं विस्मृत कर सकते। वाराणसी के निकट प्राचीन मन्दिर गहड़वालों की देन है। सारनाथ के बौद्ध-विहार भी इसी कोटि में आते हैं। गहड़वालों ने त्रिगर्त-शैली को भी प्रथम प्रदासन किया जो कांगड़ा के स्मारकों में विभाव्य हैं। इस शैली को यथानाम काश्मीरी तथा चाहमानी इन दोनों कला का मिश्रण विभाव्य है।



राजस्थान एवं मध्य-भारतीय मन्दिरों का राज्याश्रय

उत्तर भारत मे दैवदुर्विपाक से शतशः मन्दिर मुसलमानो के द्वारा ध्वस्त कर दिये गये। कन्नौज, काशी प्रयाग, अयोध्या और मथुरा के अगणित मन्दिरो के नाश की कथा—मध्यकालीन मुस्लिम-सत्ता की कलंक-कालिमा से हम परिचित ही हैं। अतः बहुत थोड़े प्राचीन स्मारक अवशेष हैं। पर्सी ब्राउन की समीक्षा कितनी सत्य है जो अवतारणीय है —

'Some idea of the amount and quality of the temple architecture produced in these parts may be obtained from an examination of the remains built into these two famous Islamic monuments, the Qutb Mosque at Delhi and the Arhai din ki Jhompara at Ajmer the earliest architectural efforts of the Afghan invaders From inscriptional evidence it is known that twenty six temples were dismantled to provide materials for the Delhi mosque, the number of pillars in which amounts to 240 Each single Mosque pillar however is made up of two pillars of the temple type, one being placed above the other thus giving a total of 480 in all or an average of rather more than eighteen pillars from each temple But the Ajmer mosque is a much larger structural compilation, three of the tem pel examples are superimposed, so that nearly a thousand pillars were used, representing the spoils of at least 50 temples' Indian ArchitectureP.—114

राजपूताना के कुछ भागों में यवनों का प्रवेश अधिक न हो पाया। जोधपुर में दो अत्यन्त सुन्दर मन्दिर विद्यमान हैं। पहला धाननदी में महामन्दिर नाम से विख्यात है जिसमें अनेक शिखर हैं तथा जिसका मण्डप सहस्र स्तम्भ है। दूसरा एक स्थिर मन्दिर भी सुन्दर है।

उदयपुर राज्य में भी दो बड़े सुन्दर मन्दिर मिलते हैं। उदयगिर परमार का बनवाया हुआ उदयेश्वर महादेव का मन्दिर मालवा में सर्वश्रेष्ठ है। 'एक-लिंग' के नाम से विख्यात मन्दिर उदयपुर राजधानी से बारह मील उत्तर एक घाटी में श्वेत संगमरमर का है। कहते हैं कि 'एक-लिंग' की स्थापना मेवाड के आदि पुरुष बाप्पा रावल के समय में हुई थी और ईसवी १५ वीं शताब्दी में महाराणा कुम्भा ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।

राजपूताना के पूर्वी कोने पर ग्वालियर का सुप्रसिद्ध प्राचीन किला बना है। इसमें (सास बहू) का अत्यन्त सुन्दर मन्दिर है। इसकी स्थापना सम्भवतः ७ वीं या ८ वीं सदी में हुई। फर्गुसन के मत में यह ११ वीं शताब्दी में बना था।

मध्यप्रान्त के ग्वालियर का 'तेली का मन्दिर' भी इस मण्डल का एक अनूठा उदाहरण है। अन्य मन्दिरों में कलचुरि-राजाओं ने जो मन्दिर बनवाये थे, उन में चौंसठ जोगिनियों का मन्दिर ही एक उत्कृष्ट नमूना है जो अब भी विद्यमान है।

इस मण्डल में ओसिया के वरेण्य मन्दिरों का वर्णन नहीं विस्मृत किया जा सकता है। यह जोधपुर में है तथा यहां पर विभिन्न देवों के मन्दिरों की संख्या एक दर्जन से अधिक है। इनमें एक मन्दिर सूर्य का भी है। इस मन्दिर पीठ पर ब्राह्मणों एवं जैनों दोनों के मन्दिर हैं। ब्राह्मणों में हरिहर मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है।

राजपूताना के मन्दिरों की गाथा में आबू पर्वत पर बने हुए जैन-मन्दिरों का सकीर्तन आवश्यक है। ये मन्दिर बड़े ही सुन्दर हैं और संगमरमर पत्थर के बने हैं। करोड़ों रुपियों की लागत उस समय लगी थी। एक मन्दिर विमल शाह का तथा दूसरा तेजपाल तथा वास्तुपाल बन्धुओं का कहा जाता है। इन मन्दिरों की कारीगरी दर्शनीय है।

इस मण्डलीय-प्रासाद-स्थापत्य की सर्व प्रमुख महिमा द्वार-शाखाओं की है—एक-शाख-द्वारों से लेकर नव-शाख-द्वारों का विलास दिखाई पड़ता है।

सोलंकी--राजवंश का प्रासाद--निर्माण--संरक्षण--गुजरात, काठियावाड़ तथा पश्चिम

उत्तर-भारती वस्तु-कला का एक अनूठा एवं अति-समृद्ध विकास-केन्द्र मध्य-कालीन गुर्जर-प्रदेश (गुजरात) एवं कच्छ-प्रदेश आधुनिक काठियावाड रहा। इस प्रदेश के समृद्धिप्रकर्ष को श्रेय है कि नाना मन्दिरो का ही निर्माण नहीं हुआ, वरन् प्रासाद-कला मे एक नवीन शैली (लाट-शैली) का भी विकास हुआ। इस वास्तु-वैभव का श्रेय तत्कालीन सुदृढ एव समृद्ध सोलकी राजाओ के राजवश को है। इनकी प्राचीन राजधानी अनहिलवाड-पट्टन थी जो आधुनिक अहमदाबाद के उत्तर-पश्चिम मे पाटन के नाम से प्रख्यात है। सोलंकियो के राज्याश्रय मे पनपी प्रासाद-कला १०वी शताब्दी से लेकर १४वी शताब्दी तक पूर्ण प्रोत्थान को पाती रही।

सोलकी राज-वश के काल मे प्रोत्थित प्रासाद-पीठो में निम्नलिखित पीठ विशेष उदाहरणीय है —

कालानुक्रम	पीठ-सज्ञा
१०वी शताब्दी	सुनक, कनोद, डेलमल तथा वेसर — गुजरात
११वी शताब्दी	नवलखामन्दिर — घुमली तथा मेजाकपुर
	सूर्यमन्दिर — मोधारा
	विमलमन्दिर — *आबू पर्वत
	किरादूमन्दिर — मेवाड
१२वी शताब्दी	रुद्रमल — सिद्धपुर गु०
	सोमनाथ — काठियावाड
१३वी शताब्दी	तेजपाल — *आबू पर्वत

*टिप्पणी — इन पुष्पाकित मन्दिरो का पिछले स्तम्भ में हम कुछ सकेत कर ही चुके हैं तथा सोलंकियो की गाथा के लिये यह पुनरावृत्ति अनिवार्य थी।

इस मण्डल के मन्दिरों में सोमनाथ के मन्दिर को भारतीय इतिहास में जो महिमा और गरिमा प्राप्त है, वह पश्चिम भारत के अन्य किसी भी मन्दिर को नहीं। इसकी गणना राष्ट्र के उन द्वादश ज्योतिर्लिंगों में होती है जो सिंध से आसाम तक और हिमाचल से कन्याकुमारी तक फैले हुए हैं। यह मन्दिर आज भी अपने उन्नत एवं प्रशस्त आकार से युक्त काठियावाड़ की दक्षिण-समुद्र-वेला पर विराजमान है और सोमेश्वर शिव का प्राचीनतम स्थान। इस मन्दिर पर मुसलमानों की चढ़ाइयों का इतिहास हम जानते ही हैं। भीमदेव प्रथम (१०२२-१०७२) ने ही प्राचीन मंदिर का पुनरुद्धार या जीर्णोद्धार किया था। प्रातः स्मरणीय सरदार पटेल ने भी भारत की स्वाधीनता में पग उठाया था जो आधुनिक जीर्णोद्धार से अब भी भव्य है।

गुजरात और काठियावाड़ के मण्डलीक मन्दिरों की विरुदावली के बखान में काठियावाड़ की दो पहाड़ियों—शत्रुञ्जय पर्वत तथा गिरनार-पर्वत हैं, जहां पर जैनियों ने एक नहीं अनेक मन्दिर बनवाये। यहां के ये स्थान मन्दिर-नगर Temple Cities के नाम से सङ्कीर्तित हैं। कहा जाता है कि इन मन्दिर-नगरों में रात में तीर्थ-यात्री टिकने नहीं पाता।

इन मंदिरों को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहले वर्ग अर्थात् ११वीं से लेकर १३वीं शताब्दी तक के जो अनेकानेक मन्दिर बने उनके निर्माण में राज्याश्रय तो निश्चत ही है, परन्तु १६वीं शताब्दी में इन प्रदेश में एक अभिनव मन्दिर-निर्माण-चेतना को जन्म देने का श्रेय हेमदपन्त को है, जिनका सुनिश्चित इतिहास लोगों को अज्ञात है। यह इतना प्रसिद्ध है कि लोग उसे पौराणिक पुरुषों में परिगणित करते हैं। वास्तव में वह देवगिरि राज-वंश के रामचन्द्र देव (जो इस वंश का अन्तिम शासक था) का प्रख्यात प्रधाना-मात्य था। इसने सैकड़ों मन्दिर बनवाये और इन मन्दिरों का नामकरण ही हेमदपन्ती शैली में हुआ।

हेमदपन्ती शैली के पूर्व-विनिर्मित मन्दिरों में थाना जिला का अम्बरनाथ मन्दिर अधिक प्रसिद्ध है। खानदेश में बालसेन पर विराजमान त्रि-पायतन मन्दिर तथा महेश्वर भी कम प्रख्यात नहीं है। इसी प्रकार नासिक जिले में सिन्नार पर गोन्डेश्वर, मोगडा पर महादेव तथा अहमदनगर जिले में पेदगांव का लक्ष्मीनारायण भी प्रसिद्ध है। निज़ाम हैदराबाद के राज्य में नागनाथ का

मंदिर भी उल्लेख्य है। ये सभी मंदिर ११ वी से लेकर १३ वी शताब्दी के बीच मे बने और ये मंदिर वास्तव मे यथानिर्दिष्ट पञ्चम वर्ग (दक्षिण खानदेश) के मण्डल मण्डन हैं, जिनकी प्रस्तावना तत्रैव ही विशेष प्रासंगिक होगी।

अस्तु इस किञ्चित्कर स्वल्प समीक्षण के उपरान्त हमे इस मण्डल के महामहिम भास्वन्मरीचिमाला दीपित मोधारा के सूर्य मंदिर पर थोडा सा सकेत और भी आवश्यक है।

इस मण्डल की प्रासाद शैली की सर्वोपरि विशिष्टता मण्डोवर विन्यास स्तम्भ बाहुल्य विच्छित्ति, सभा भवन-न्यास एव शिखरालकृति विच्छित्ति विशेष स्तोत्य हैं। अधिक विवरणो मे न जाकर पर्सी ब्राउन की यह समीक्षा हृदय को गद्गद् कर देती है —

'In viewing the Modhera temple the aesthetic sense at once responds to the elegance of its treatment and its proportions as a whole, the entire composition being lit with the living flame of inspiration But apart from its material beauty its designer has succeeded in communicating to it an atmosphere of spiritual grace The temple faces the east so that the rising sun at the equinoxes filters its golden cadence through its *opening from door way to corridor past columned vestibules finally to fall on the image on* its inner chamber In its passage the rays of the heavenly body to which the shrine is consecrated, quiver and shimmer on pillar and archway giving life and movement to their groven forms the whole structure appearing radiant and clothed in glory To see this noble nonument with its clustered columns not only rising like an exhalation but mirrored on still waters below is to feel its creator was more than a great artist, but a weaver of dreams"
Indian Architecture pp 120

दाक्षिणी उत्तर-शैली-मण्डल--खान-देश

अस्तु, अन्त मे हम नागर-कला के दक्षिण प्रसार को नही भुला सकते हैं । यह दक्षिण-प्रदेश (Deccan) जिसको खानदेश के नाम से पुकारते हैं, वह एक प्रकार से दो प्रान्तो के बीच मे प्रोल्लास प्राप्त कर रहा है—उत्तर मे लाट-शैली का प्रभाव है, तथा दक्षिण मे चालुक्यो का । तथापि ये मन्दिर प्रोल्लास स्वाधीन विलास के प्रतीक हैं। ये मन्दिर शिखरोत्तम प्रासादो की ही दीप्ति से ही दीपित है। हमने अपने शास्त्रीय अध्ययन मे प्रासाद-मडोवर के ऊपर जिन तीन विधाओ का वर्णन किया है —

१—मजरी-शिखर—खजुराहो ।

२ गवाक्ष-शिखर—एकाडक-शिखर—भुवनश्वर—उडीसा

३—लता-मञ्जरी उरो मञ्जरी-शिखर—मध्यभारतीय मन्दिर जैसे नीलकण्ठेश्वर उदयपुर

अतएव ये खानदेशीय मन्दिर तृतीय श्रेणी ही के निदर्शन हैं। इन दक्षिण मन्दिरो (Deccanese temples) मे यह आभा प्राप्त होती है। इन शिखरो की आकृति उरो मञ्जरी अथवा एक-शृंग के समान नही है। लहसन की आकृति मे ही विभावित किय जा सकते है। लहसन और अडक म कोई अन्तर नहीं हैं। अतः ये भी अडक ही शिखर है । इन दक्षिण-प्रासादो में प्रसिद्ध निदर्शन अम्बरनाथ मन्दिर है। यह महाराष्ट्र के थाना जिला मे स्थित है। इस शैली में खानदेश बालसेन स्थान पर नौ मन्दिरो की माला देखने के योग्य है । हेमदपथी शैली में निर्मित अनेक मन्दिरो का गुणगान हो ही चुका है, वे भी इस प्रदेश में बिखरे पडे है।

अस्तु, इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त अब हम कालानुक्रम स्तद्गीय मन्दिरो की तालिका प्रस्तुत करते हैं —

काल		सज्ञा एव	स्थल
११ वी शताब्दी	१	अम्बरनाथ	थाना जि०
,,	२	त्रि-आयतन-मन्दिर	बालसेन—खान देश
,,	३	महेश्वर ,,	— ,,
१२ वीं शता०	४	गोण्डेश्वर	सिन्नर—नासिक
	५	महादेव	भोगड – ,,
	६	लक्ष्मी नारायण	पडगाव – अहमदनगर
१३ वीं शता०	७	नाग-नाथ	औंध—आन्ध्र प्रदेश
		हेमद-प-प-शैली	
,,	८	दैत्य-सुन्दन विष्णु-मन्दिर	लोनार ⎫ Decca- सतगाव ⎭ nese

मखर

टि० १ इस मण्डल का मण्डन अम्बरनाथ मन्दिर है । इसकी अलकृति एव प्रासाद स्थापत्य बडा ही ओजस्वी है ।

टि० २ बालसेन पीठ पर लगभग ८ मन्दिर आज भी विराज-मान हैं ।

टि० ३ यह पीठ समन्वय धारा Syncrestic movement का भी एक प्रसिद्ध विलास है —पञ्चायतन-परम्परा ही यह समर्थित करती है ।

— • —

मथुरा-वृन्दान—उतर-मध्य-कालीनअर्वाचीन प्रासाद

अत्र रहा इस शैली का षष्ठ मण्डल—मथुरा-वृन्दावन, अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और राजाओ के अतिरिक्त सेठो, साहूकारो एव साधारण भक्तजनो का भी सरक्षण इन मन्दिरो की रचना में कम नही है।

योगिराज भगवान् कृष्णचन्द्र की क्रीडा-स्थली मथुरा-वृन्दावन का यह मण्डल मन्दिर-पीठ के लिये अतिप्रशस्त प्रदेश था परन्तु यहा के मन्दिर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं। भारतीय इतिहास मे मुसलमानो की सहारकारिणी, पैशाची प्रवृत्ति के निदर्शनो की कमी नही परन्तु सौभाग्य से १६ वीं शताब्दी मे मुगल सम्राट् अकबर के औदार्य एव अन्य-धर्म-सहिष्णुता को ही श्रेय है कि मुगल-राज-पीठ के सन्निकट वृन्दावन मे उसी काल मे पाच प्रसिद्ध मन्दिरो का निर्माण हुआ। इन पाच मन्दिरो के नाम से हम सभी परिचित हैं :—

१—गोविन्द-देवी
२—राधा-वल्लभ
३—गोपीनाथ
४—जुगलकिशोर
५—मदनमोहन।

इन मन्दिरो के निर्माण मे यद्यपि वैष्णव-धर्म के उस मध्यकालीन प्राञ्जल एवं अति उदात्त आविर्भाव को श्रेय है जिसका श्रीगणेश चैतन्य महाप्रभु के द्वारा हुआ था तथापि यह कथन अनुचित न होगा कि मुगल सम्राट् अकबर की इस धार्मिक सहिष्णुता का राजाश्रय के रूप मे मूल्याकन हो। आगे उसके उत्तराधिकारियो मे औरंजेब की नृशसता से हम सभी परिचित ही हैं जिसके समय मे इस मण्डल के मूर्धन्य मन्दिर गोविन्द-देवी का ध्वस किया गया और अब उसका महामण्डप ही उसकी प्राचीन गाथा का स्मारक है।

वृन्दावन के मन्दिरो के सम्बन्ध मे एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि इनकी निर्माण-

शैली मे एक नवीन पद्धति का अनुगमन प्रत्यक्ष है। भुवनेश्वर एवं खजुराहो के मदिरो पर जो मूर्ति विन्यास प्रचुर देखा जाता है वह यहा पर सर्वथा विलुप्त हो गया। शिखरा व आकार में भी परिवर्तन प्रत्यक्ष है। पर्सी ब्राउन को इस नवीनता मे मुसलिम कला का प्रभाव प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव मे यह नवीनता उत्तर मध्यकालीन लाट-शैली की अतिरञ्जनात्मक-शैली की एक प्रकार मे प्रतिक्रिया ही है। पुन जब धन एव ऐश्वर्य शैथिल्य एव दारिद्र्य की ओर अग्रसर होता गया तो शैली की अतिरञ्जना तथा घन-सकोच अपन आप भी शिथिलता को प्राप्त हो गया।

इस वास्तविक तथ्य के निर्देशोपरान्त हम यह नही स्वीकार कर सकते कि ये मन्दिर प्रासाद स्थापत्य की दृष्टि से हीन हैं। भारतीय वास्तु-शास्त्र में प्रासाद-निवेश मे सर्वमूर्धन्य विच्छित्ति एव प्रतीकत्व आमलक है—यह आमलक—'अमल-शिला' जितनी सुन्दरता से यहा निविष्ट की गई है, वह सर्वातिशयिनी कृति है।

पर्सी ब्राउन ने जो अपनी समीक्षा मे (see Indian Architecture p. 130 last line) ".. but as a work of art this from of Sikhara has not much to commend it" उनकी यह समीक्षा मेरी दृष्टि में उनकी दृष्टि का विरोध (Contradiction) उपस्थित करती है —see ibid :

"But the most distinctive portions of several of these Brindaban temples are the sikharas which in style and shape are unique, as they bear little or no resemblance to any other kind of Indian temple spire They rise from an octagonal plan and taper into a tall conical tower (see Madanmohan of 65 ft. hight) with a broad band of mouldings outlining each angle At intervals throughout their height are similar bands of mouldings placed transversely, so that the surface effect is that of a senes of diminishing rectangular panels. Overhanging the whole at

the apex is a ponderous finial or amalasila (Amalaka-*shukla*) a flat circular disc, its outer edge ornamented with a border of massive knob like petals or flutes"

टि०—भारतीय प्रासाद स्थापत्य की दो प्रमुख धाराओं—दक्षिणी तथा उत्तरी—की अवान्तर –धाराओं चालुक्य, पल्लव चोल, पाण्ड्य आदि (दक्षणी) तथा केसरी चन्देल प्रतीहार, राजपूत आदि (उत्तरी) के साथ साथ जो स्थूल समीक्षा हो चुकी है इस विशाल भारत के प्रासाद-स्थापत्य को दो प्रमुख शैलियों में बांटा गया है—नागर तथा द्राविड़। इनके अतिरिक्त शिल्प-शास्त्र दिशा से हम अन्य तीन शैलियों का विस्मृत नहीं कर सकते हैं। इनमें बेसर वावाट तथा भूमिज विशेष उल्लेखनीय हैं। हमने इस ग्रन्थ में शास्त्रीय सिद्धान्तों के निरूपण की आड़ में पहले ही कुछ प्रकाश डाल ही दिया है। अतएव वेसर, भूमिज वावाट इन सभी तीन शैलियों को हम भौगोलिक रूप में गतार्थ नहीं कर सकते हैं। वेसर पर हमने पहले ही नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर ही दी है। इस शैली का प्रमुख प्राचीन निदर्शन दुर्गा-मन्दिर है।

जहां तक वावाट शैली का प्रश्न है इसके निदर्शन परवर्तीय चालुक्यों और होयसालों के मन्दिरों में प्राप्त होते हैं। मैसूर के मंदिर वास्तव में स्थपति (Architect) का कौशल ही नहीं है वरन् तक्षक (Sculptor) का महान योगदान है। इन मैसूर मन्दिरों के तक्षण में ऐसा मालूम पड़ता है कि स्थपति तक्षक ही नहीं वह मानो चदन-काष्ठ-पच्चीकार, वर्धकि है अथवा हस्ति दन्त कलाकार अथवा धातुकार है। सच पूछा जावे तो वह स्वर्णकार स्वर्णकार हैं। इस शैली में निर्मित मन्दिरों की सूची प्रस्तुत की जाती है —

	स्थान	नाम
१	दोड्डा गोड्डवल्ली	लक्ष्मी-देवी
२	बेलूर (वेलपुर)	चैन्न केशव
३	नागमंगल	केशव (त्रि-आयतन)
४	कोर-मंगल	बूचेश्वर (त्रि-आयतन)
५	अर्सीकेरी	ईश्वर (द्वि-आयतन)
६	हरिहर	हरिहर (द्वि आयतन)
७	हेग्गडेहल्ली	केशव (त्रि आयतन)

८	कुग्गी-हल्ली	लक्ष्मी-नरसिंह (त्रि-प्रायतन)
९.	सोमनाथपुर	शुद्ध केशव
१०	हलेबिड	होयसलेश्वर

अन्त मे यह अन्तिम निदर्शन होयसलेश्वर चालुक्य-होयसाल-परम्परा का सर्वप्रमुख निदर्शन है। शिल्प चित्र-वास्तु का चरमोत्कर्ष यह निदर्शन है। यह श्रेय चालुक्य-होयसाल-मण्डल को है जो मौलिमालाय मण्डन है—"It is the supreme climax of Indian architecture in its most prodigal plastic menifestation".



पूर्व-पश्चिम-मण्डलीय प्रासाद

भूमिज-प्रासाद

पर्वताकृति-आयतन-प्रासाद

बौद्ध-प्रासाद—तीर्थ-स्थान, स्तूप, चैत्य, संघाराम आदि

बगाल-विहार-मण्डल

काश्मीर-मण्डल

नेपाल-मण्डल

ब्रह्म-देश (वर्मा)-मण्डल

सिंहल-द्वीपीय (लका)-मण्डल

भूमिज—बंगाल-विहार-मण्डल

भूमिज की आधुनिक भारत-भारती म प्रथम व्याख्या जो मैंन दी है—उस के अनुसार यह वगाल विहार-मन्दिरो से सम्बन्धित है। इस प्रदेश की जलवायु ने तथा मुसलिम आक्रमणो न यहा क निदर्शनो को अल्पावशेष कर दिया। तथापि हम इस शैली मे उत्थित मन्दिरो को तीन भागो मे वर्गीकृत कर सकते हैं —

१—प्रथम—इसको हम दो शाखाओ मे आलोचित कर सकते हैं—एक तो बृहत्तर वग और दूसरा सीमित वग। बृहत्तर वग, उडीसा के सामान प्रसिद्ध है। सीमित वग से तात्पर्यय तद्देशीय जन स्थापत्य (local and popular) है, क्योकि वहा के सामाजिक एव धार्मिक विचारो के अनुरूप ही ये विकास अपने आप उदित हुए।

२—बौद्ध-विहार—हम जानते ही है कि महायान सम्प्रदाय के आविर्भाव मे बगाल विहार प्रधान पीठ था। अतएव यहा पर बौद्ध निदर्शन अपनी अभिख्या से आज भी प्रकाशित हैं।

३—पाल और सन राजवशो की छत्रछाया म यह पूर्वीय परम्परा (Eastern School of Art) ने बृहत्तर भारत, द्वीपान्तर भारत मध्य ऐशिया आदि के प्रधान जो मन्दिर आज भी विद्यमान हैं उनके निर्माण मे इसी भारत के पूर्वीय स्थापत्य परम्परा को श्रेय है।

अन्त मे हम इस शैली के एक दो निदर्शनो पर भी पाठको का ध्यान आकर्षित करते हैं—पहली श्रेणी मे खिचिंग मन्दिर-पीठ है। दूसरी श्रेणी मे निदर्शन राजशाही जिला मे पहारपुर पर एक बौद्ध स्मारक विहार है जिसको धर्मपाल न बनवाया था। तीसरी श्रेणी सन राजाओ की राजधानी लखनौती प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय स्थापत्य म पाल-चित्रण (Pal Sculpture) वज्रयान बौद्ध-सम्प्रदाय का प्राल्लाम माना जाता है।

अस्तु, इन भूमिज प्रासादो की क्रोड मे, सौभाग्य से इस मण्डल में कन्

नगर (दीनाजपुर) का गौ विमानो वाला मंदिर उल्लेख्य है और वह अब भी विद्यमान है।

इस मण्डल में ईसवी-योत्तर अष्टम शतक से लेकर अष्टादश शतक तक मन्दिर बनते रहे। अर्वाचीनों में वृन्दावनी-मन्दिरों के समान विष्णु-पुर के मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

अन्त में इस स्तम्भ में प्रासाद-स्थापत्यानुरूप इस शैली की भी कुछ प्रस्तावना आवश्यक है। यद्यपि उड़ीसा-मण्डल का भी प्रभाव यहां अनिवार्य था तथापि वङ्गालो अपनी वैशिष्ट्य प्रखरता को भी न दबा सके। इन मन्दिरों के शिखरों में बंगला-आकृति की भूषा विशेष दर्शनीय है। साथ ही साथ प्रासाद-निवेश में मुख मण्डप का न्यास विशेष उल्लेख्य है। शिखर-विच्छित्तियों में 'पञ्चरत्न' 'नव रत्न' की भूषा भी प्रख्यात है। इन मन्दिरों में अन्तराल (ठाकुरबरी) गर्भ गृह का प्रमुख विन्यास है। जोरबंगला के मन्दिरों में द्वि-आयतन—निवेश भी उल्लेख्य है। बांकुरा जिला में उत्थित सिद्धेश्वर मन्दिर भी बड़ा प्रसिद्ध है। विहार के मान-भूम जिला के भी मन्दिर विख्यात हैं। इन सभी में यह विच्छित्ति दर्शनीय है। वर्द्धवान आदि अन्य पीठ भी आज ये निदर्शन प्रस्तुत करते है



काश्मीर-मण्डल

इसी प्रकार उत्तरापथ का काश्मीर-मण्डल भी प्रासाद-वास्तु का अति प्राचीन एवं समृद्ध पीठ है। यहाँ के मन्दिरों की कुछ स्थानीय विशेषताएँ हैं जो पार्वत्य प्रदेश के अनुकूल ही है। काश्मीर के मन्दिरों में सर्वप्रसिद्ध मार्तण्ड-मन्दिर है। भारत के सूर्य-मन्दिरों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको काश्मीर-नरेश ललितादित्य ने बनवाया था। यह आठवीं शताब्दी का है। इसी शताब्दी का शंकराचार्य-मन्दिर भी अपनी महिमा आज भी रखते हैं। तदनन्तर अवन्तिपुर के मन्दिर (नवीं शताब्दी) में आते हैं। इनमें अवन्तिस्वामी का विष्णु-मंदिर तथा अवन्तीश्वर शिव-मंदिर विशेष प्रख्यात है। इनके निर्माण में काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मन तथा उनके उत्तराधिकारियों का हाथ था। शंकरवर्मन, जो अवन्तिवर्मन के अनन्तर सिंहासनारूढ़ हुआ उसने भी बहुमूल्य मंदिर बनवाये, जिनमें दो शिव-मंदिरों के भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं।

इस काश्मीर-मण्डल में नाग-पूजा (Snake-cult) भी पूरी आस्था से चल रही थी, अतः इस परम्परा ने भी इस स्थापत्य में कुछ नवीनतायें ला दी थी। इस अत्यन्त संक्षिप्त समालोचना के अनन्तर हमें बौद्ध-मंदिरों को नहीं भुलाना चाहिए। सर्वप्रथम प्रासाद-कृतियां बौद्ध हैं। जो चैत्य बने वे पूर्ण मंदिराकृति में ही बने। पुरातत्त्वीयान्वेषण (खुदाई) से जो श्रीनगर-निकट हरवान तथा बरमूला के निकट जो भग्नावशेष प्राप्त हैं वे प्राचीनतम निदर्शन हैं।

यह भी ग्राह्य है कि इस पार्वतीय-प्रदेश पर मध्य एशिया तथा उपत्यका-प्रदेश—गान्धार, तक्षशिला आदि मण्डलों का भी इस मण्डल पर पूरा प्रभाव पड़ा। इस मण्डल में एक अभिनव शैली अपने आप उदित हो गयी। पर्सी ब्राउन का भी कथन सार्थक है कि इस कला पर पार्थियन, रोमन, हैलेनिस्टिक विदेशी प्रभाव भी असन्दिग्ध है। पुनः आगे चलकर परिहासपुर पर बौद्ध-प्रासाद उदित हुए जो बड़े भव्य हैं। इनके शिखरों एवं अग्रभागों की आभा विमानाकृति विशेषकर स्तूपाकृति (Pyramidal shape) विद्यमान है। इस प्रासाद-कला की दूसरी विशेषता स्तम्भ विच्छित्ति है। आगे चलकर उत्तर भारत की धारा ने भी इस मण्डल को भी आक्रान्त कर दिया—अंग एवं उपाङ्ग-प्रत्यङ्ग, कीर्ति स्तम्भादि सब प्रोल्लसित हो गये।

नेपाल-मण्डल

काश्मीर मण्डल के साथ साथ नेपाल मण्डल के मंदिरों का गुणानुवाद आवश्यक है। नेपाल में तो घरों से अधिक मंदिर हैं। यहां बौद्धों एवं ब्राह्मणों दोनों के मंदिर मिलते हैं। स्वयंभू-नाथ का स्तूप, बुद्धनाथ बोद्धनाथ का मंदिर और चुगुनाथ का मंदिर विशेष प्रसिद्ध है। एक ममनाथ (वास्तव में मन्मथनाथ) मंदिर भी सकीर्त्य है। इनमें प्रथम दो मंदिरों का प्राचीन गौरव इसी से प्रकट है कि इनकी स्थापना उस सुदूर अतीत में हुई थी जब राजर्षि अशोक ने बौद्ध भिक्षुक के रूप में नेपाल की तीर्थ यात्रा की और उसकी स्मृति में अगणित स्तूपों का निर्माण कराया उन्हीं में दो ये भी हैं।

मुल्ला राजाओं के राज्याश्रय से नेपाली वास्तु कला अपनी एक नवीन शैली लेकर निखर पड़ी। इस राज वंश के सप्तम तथा अष्टम राजा जयस्तिति तथा यक्ष (१४वीं तथा १५वीं शताब्दी) ने जिस राज निवेश योजना को लेकर चले उसमें पूजा वास्तु प्रोत्फुल्ल हुआ। पशुपति-नाथ का मंदिर नेपाल के मंदिरों में बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि यह १७वीं शताब्दी की कृति है परन्तु इसके प्रांगण में अनेक मंदिरों का वास एवं अनेक देवों की प्रतिष्ठा से यह वास्तु पीठ-कला और तीर्थ दोनों दृष्टि से विश्वविश्रुत हो गया।

अब आइये तिब्बत की ओर।

तिब्बत सिक्किम तथा कांगड़ा—

नेपाल के अतिरिक्त हिमाचल उपत्यकाओं में फैले हुए प्रदेशों में तिब्बत और सिक्किम में भी हिन्दू स्थापत्य के अनेक निदर्शन पाये जाते हैं। तिब्बत में बौद्ध-विहारों का ही प्राधान्य है। इनमें पोत्तल नामक विहार जिसको अरुण प्रासाद के नाम से पुकारा जाता है विशेष प्रसिद्ध है। यहीं पर दलाई लामा का निवास है। सिक्किम का स्थापत्य तिब्बत से ही प्रभावित हुआ है। पेमाची नामक मंदिर यहां का विशेष उल्लेखनीय है। कांगडा के दो मंदिर वैजनाथ तथा सिद्धनाथ शिव प्रख्यात हैं। इन में विशेषकर सिद्धनाथ में सभा मंदिर एवं शिखर भूषा दोनों का उदाहरण मिलता है।



सिंघल-द्वीप तथा ब्रह्मदेश (बर्मा)

लका—भारत के दक्षिण एव उत्तर तथा नेपाल आदि हिमाचल प्रदेशों के इस प्रासाद-वास्तु वैभव की झाकी देखने के बाद दक्षिण म पुन पदार्पण करे तो सिंहलद्वीप (लका) का स्मरण अवश्य आ जाता है । अगाध समुद्र-जल राशि कभी व्यवधान उपस्थित नही कर पाती । आधुनिक भारतीय जीवन राम-चरित से अधिक प्रभावित है तो राम चरित में रावण को कौन भूल सकता है ? लका उसी की राजधानी थी जो सोने की कही जाती थी । आजकल तो सिंहल-द्वीप मे वास्तु कला की दृष्टि से वहा के राज-पीठों का निर्माण ही विशेष विवच्य है । अत यह स्थान अति-प्राचीन समय में ही बौद्ध धर्म का केन्द्र बन गया था । अत वहा पर हिन्दू प्रासादो को कौन प्रश्रय देता ? यद्यपि लका का ऐतिहासिक राजा रावण तो शिव भक्त था तथापि मदिरों के नाम से लका तिलक (जेतवनाराम) मदिर (१८वीं शताब्दी) का तो सकीर्तन कर ही लेना चाहिए । इसमें बुद्ध भगवान् की जो मूर्ति खोदो गयी है वह लगभग ६० फीट की है । सिंघल-द्वीप-स्थापत्य का अपना अलग विकास था, यद्यपि दाक्षिणात्य कला का उस पर पूर्ण प्रभाव प्रतिबिम्बित है । वहा के स्थापत्य में पार्वत वास्तु ही प्रधान है तथा राजाश्रय पूर्ण मात्रा में । जेतवनाराम (विहार) मदिर के अतिरिक्त लका मे एक सप्तभौमिक-विमान भी है जिसकी सज्ञा रत्न-महल प्रासाद है । वानडारी के घमावोपों म दल्ल-मालिगाव के नाम से प्रख्यात वास्तव म शैव आयतन है जो लगभग १२वीं शताब्दी में बना था ।

इस सक्षिप्त प्रस्तावना के उपरान्त हम बौद्ध-प्रासादों की विशेष कीर्ति पर ना कर्मकुहरो को ममृत-निस्यन्द से भर देवें । अनुराधापुर बौद्ध प्रासाद-पीठ पर बहुत से विद्वानो ने लिखा है । अत इस महापीठ को हम नहीं भुला सकते । इस पीठ पर बौद्ध स्तूप-प्रासादों की भरमार है । सिंहलियों ने इन स्तूपो को षड्वर्ग म विभाजित कर नाना रचनायें की हैं । स्तूप को दगोबा कहते हैं जो मेरी दृष्टि म गर्भ-गृह का अपभ्रंश है । पुन बौद्धो की पदावली में धातु-गर्भ (Relic chamber) को सभी जानते हैं । पुन इन स्तूपों

में छत्रावली भी विशेष उल्लेखनीय है। इन प्राचीन स्मारकों में निम्न तालिका विशेष प्रस्तोत्य है —

रुवानवाइली	Ruwanwaeli	ई० पू० द्वितीय श०
थूपरामा	Thuparama	,, ,, तृतीय ,,
अभयगिरिया	Abhayagiriya	ई० उ० तृतीय ,,
जेतवनाराम	Jetawanarama	ई० ,, चतुर्थ ,,

लंका का लोहपासाद (लोह-प्रासाद) भी उल्लेख्य है जो मामल्लपुरम् की आकृति का अनुकरण करता है। अस्तु, इतनी ही कथा काफी है।

बर्मा—सिंहल-द्वीपीय कला के इस विचित्कर आलोचन के उपरान्त बर्मा के वरेण्य पगोडाओं का नामोल्लेख भी प्रासंगिक है। यहां का काष्ठ-स्थापत्य wooden-architecture) बड़ा स्तुत्य है। वैसे तो बर्मा की वास्तु-कला की तीन विकास धारायें हैं, परन्तु मध्यकालीन स्तूप एवं मंदिर ही विशेष विख्यात हैं। इनमें पगान के मंदिर दर्शनी हैं। यह एक मंदिर-नगर के रूप में निर्मित हुआ है। उत्तर-मध्य काल अथवा अर्वाचीन युग में पगोडाओं की माला से ब्रह्मा का देश मण्डित है। माण्डले के इतस्तत बहुसंख्यक पगोडाओं का निर्माण हुआ। पगोडा एक प्रकार से स्तूप और मंदिर दोनों के लिए ही बोधक है। कहा जाता है बर्मा में आठ सौ से एक हजार तक मंदिर बने थे जिनको आजकल पगान के ध्वंसावशेष कहे जाते हैं। इन में आनन्द नाम का बड़ा ही अद्भुत मंदिर था उसकी भूमिकाओं एवं शिखरों को देखकर दक्षिण के विमान-प्रासाद की पूर्ण प्रतिमूर्ति प्रतीत होती थी। पगान के अन्य मंदिरों में महाबोधि-मंदिर भी विशेष उल्लेख्य है जो बोध-गया मंदिर के अनुकरण पर बना था

अस्तु, इस स्वल्प स्तवनोपरांत अब हमें कुछ विशेष बखान की आवश्यकता नहीं। यहां पर केवल तालिकानुरूप ही उपस्थापन अनुकूल था परन्तु इतना ही संकेत काफी है कि पगोडा ही बर्मा के प्रासाद हैं।

बृहत्तर-भारतीय-प्रासा

हिन्दू-प्रासाद

बौद्ध-प्रासाद

अ १ कम्बोज-मण्डल

२ श्याम-मण्डल

३. चम्पा मण्डल

४. जावा-बाली-सुमात्रा-मण्डल

५. रमण्य-देशीय-मण्डल

६ मलाया-मण्डल

ब- मध्य एशिया—

स विश्व-विक्रान्त—चीन, जापान तथा अमेरिका—

बृहत्तर भारतीय स्थापत्य

अ. द्वीपान्तर भारत —

भारत-वर्ष के पूर्वदिग्भाग पर फैले हुए इस द्वीपान्तर-भारतीय-स्थापत्य विन्यास-प्रोल्लास-धाराओं की निम्न तालिका से बृहत्तर भारतीय प्रासाद-स्थापत्य की कितनी महनीय कीर्ति आज भी दिग्दिगन्तव्यापिनी है वह पाठकों की समझ में आसकेगी :—

कम्बोडिया—कम्बोजदेश, लोअर कोचीन, चीन आदि
सियाम—श्याम-देश
अन्नम – चम्पादेश
जावा-बाली – सुमात्रा (व'का)
यवन-देश – रमण्य देश
टि०— इसकी राजधानी चूढानगरी को आजकल नाग प्रयाग के नाम से पुकारते हैं।
मलाया-प्रदेश—(टापू)

साथ ही साथ हम मध्य-ऐशिया, सुदूर ऐशिया को भी नहीं भुला सकते जिसमें चीन, जापान आदि महादेशों में भी भारतीय स्थापत्य ने इन महादेशों को भी आक्रान्त कर लिया था। इससे बढ़कर और क्या विक्रम दखाना जा सकता है ? यह कला मध्य-अमेरिका तक भी फैल चुकी थी जिसकी मय-कला के निदर्शन अब भी पुरातत्वीयान्वेषणों से पूर्ण समर्थित हैं।

कम्बोज (कम्बोडिया)-मण्डल—इस द्वीपान्तर निवासी खमेर बड़े कुशल स्थपति थे जैसे जावा के। दोनों ने भारतीय धर्मानुरूप नाना वास्तु कृतियों के निर्माण में परम प्रसिद्ध हुए। खमेरों को फर्ग्युसन ने 'one of the greatest building races of the world'—जो कहा वह सर्वथा सत्य है।

इस द्वीपान्तर भारत में यह कम्बोज-शैली मध्य-काल में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गयी। अंगकोर वट को पर्सी ब्राउन ने—the largest and most impressive stone temple in existence—जो कहा है

सर्वथा सत्य है। अंगकोर संस्कृत शब्द 'नगर' का अपभ्रंश है। यह एक प्रकार का नगर मंदिर Grand Cathedral है। वट से अभिप्राय बौद्ध भवन से था। पहले यह भगवान् विष्णु के लिये बनवाया गया था, बाद में जयवर्मन (११८१ १२०१) ने इसे बौद्ध-मन्दिर में परिणत कर दिया। कम्बोडिया के अंगकोरवट नामक मंदिर की छटा दर्शनीय है, जो वहां के राजा जयवर्मन द्वितीय की कीर्तिपताका को आज भी उड़ा रही है। यहां के बयोन मंदिर के निर्माण में सूर्यवर्मन प्रथम के राज्याश्रय का उल्लेख भी वांछित है। यह सम्भवतः ब्रह्मा का मंदिर था। इसी प्रकार कम्बोडिया के बत्तेयसी या बैनतयश्री मंदिर का निर्माण ख्मेर-राजवंश के जयवर्मन सप्तम के द्वारा हुआ। कम्बोडिया के अन्य मंदिरों में बेंग मेलेया तथा बापुन भी उल्लेख्य हैं।

श्याम-मण्डल—श्याम देश का रामायण में भी संकेत है। बौद्ध-परम्परा में अशोक और कनिष्क दोनों ने ही धर्म-दूतों को बौद्ध-धर्म-प्रचारार्थ श्याम देश भेजा था। श्याम में, ख्मेरों की सभ्यता (जो ईसवीय शता० से बहुत पुरानी थी उस) में जो स्थापत्य अवशेष उपलब्ध हुए हैं, उनमें ब्राह्मण धर्म का प्रभाव परिलक्षित है। आगे चलकर बौद्ध-धर्म के प्रभाव से प्रभावित जिन कलाकृतियों का जन्म हुआ उनमें विहार और मण्डप दोनों प्रकार के वास्तु संस्थान प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। राम, सीता, विष्णु गणेश की प्रतिमायें तथा रामायण और महाभारत के अनेक कथानक यहां के प्राचीन स्मारकों में चित्रित हैं। श्याम के महाधातु-मन्दिर में तथा अन्नम (फेंच इण्डोचाइना) में जो मंदिर हैं उनमें महाभारतीय पाण्डवों के नाम उपलोकित हैं। भीम मंदिर पुरन्दर मंदिर, प्रम्बनम, पनतरम, आदि विशेष उल्लेख्य है।

अस्तु, इस उपोद्घात के बाद अब हम ऐतिहासिक दृष्टि से भी थोड़ी सी प्रस्तावना करनी है।

वैसे तो श्याम विभिन्न कालों एवं स्थापत्य-परम्पराओं के संगम को पूर्णरूप में सार्थक करता है। बहुत से विद्वान् लेखकों ने इस अन्तरीप-*प्रदेश की तो कला-धाराओं का गुणगान किया है,* परन्तु ऐतिहासिक निदर्शनों

के मोड़ मे तीन ही काल विशेष उल्लेख्य हैं :—

द्वारावती-काल	(१०वी शताब्दी तक)
ख्मेर-काल	(१२वी से १३वी शताब्दी तक)
ताई-काल (राष्ट्रीय युग)	(१३वी से १७वी ,, तक)

द्वारावती-स्थापत्य —इस काल में गुप्तो, पल्लवो एव चालुक्यो का भी प्रभाव पूर्ण प्रत्यक्ष है। इस काल में महातत-मदिर विशेष उल्लेख्य है।

ख्मेर-काल यही काल इस अन्तरीप का महान् प्रोल्लास है। इस काल में वट महाधातु विशेष कीर्त्य हैं। यह १२वी शताब्दी की निर्मित है। इसकी शिखर-विच्छित्तियो में नागर-प्रासादो की अमल-शिला (आमलक) भी पूर्ण प्रत्यक्ष है।

ताई-काल .—में लका-तिलक के सदृश एक मदिर बना जो भगवान् बुद्ध की प्रतिमा एव पूजा आदि की प्रेरणा थी। अस्तु, इस स्वल्प सकीर्तन उपरान्त यह भी आवश्यक है कि श्यामदेशीय स्थपति वास्तु विद्या के ही विशारद नही थे, वे नागो, असुरो के समान बड़े कुशल तक्षक (Sculptor) भी थे।

चम्पा-मण्डल चम्पा का रामायण मे सकेत है। सुग्रीव ने सीता की खोज मे दूतो को यहा पर भेजा था। अरकानी परम्परा के अनुसार चम्पा का पहला राजा बनारस के एक राजा का पुत्र था जो यहा आकर रामवती (रामवाई अथवा रामरी) पर रहता था। दूसरी परम्परा के अनुसार चम्पा के भारतीय राजा चन्द्रवशी कौण्डिन्यो के नाम से प्रसिद्ध थे। चम्पा मे बहुत से मन्दिर पाये जाते है। इन मन्दिरो को कला विशारदो ने पाच वर्गों मे वर्गीकृत किया है। इन मन्दिरो के स्तम्भ विशेष दर्शनीय हैं। इन वर्गों मे मैसोन, डाग, पोनगर, फोहाई क्षेत्र-विशेष उल्लेख्य हैं। मैसोन के मन्दिरो मे शिव लिंग के अतिरिक्त गणेश, स्कन्द, ब्रह्मा, सूर्य इन्द्र तथा अन्य देवो और देवियो की मूर्तिया प्रतिष्ठित हैं। डाग-वर्ग माला के मन्दिरो मे बौद्ध चैत्यो एव विहारो का ही प्राधान्य है। पो नगर के एक मन्दिर मे उमादेवी की एक सुन्दर प्रतिमा विशेष उल्लेख्य है। इसी

प्रकार अन्य वर्गीय मन्दिरों की कथा है। डा० मजूमदार के मत में चम्पा के मन्दिरों और दक्षिण मामल्लपुरम के रथ-विमानों में बड़ा सादृश्य है। कंजीवरम् और बादामी के मन्दिरों का भी कम सादृश्य नहीं है। चम्पा के मन्दिरों के शिखर मामल्लपुरम के धर्मराज के रथ और अर्जुन-रथ के शिखरों के समान ही हैं।

अस्तु इस अत्यन्त स्वल्प समीक्षण के उपरान्त अब हमें यह भी स्वीकार करना है कि चम्पा के कारीगर पच्चीकारी तथा चित्रकारी में भी बड़े दक्ष थे। पुन: जैसा ऊपर संकेत है तदनुरूप यहां के मन्दिरों में शिखर-विन्यास तथा स्तम्भ-न्यास एवं मूर्ति-न्यास ये सब भारतीय स्थापत्य के प्रतीक हैं।

सुमात्रा-जावा-बाली-मण्डल—यह सुमात्रा स्वर्णद्वीप के नाम से रामायण में पुकारा गया है। यहां पर पूजा-वास्तु के निदर्शन बहुत कम मिलते हैं। बाली भी मन्दिर स्थापत्य में विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। यहां के मन्दिर अब ध्वंसावशेष हैं।

जावा—का बोरोबुदर अर्थात् अनेक बुद्धों का आयतन विशेष प्रसिद्ध है। यह यथानाम बौद्ध-गृह है परन्तु जावा में हिन्दू मन्दिरों की भी कमी नहीं है, जिनमें प्रम्बन आदि विशेष उल्लेख्य हैं जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, काली दुर्गा तथा गणेश की पूजा के लिये निर्मित हुए थे। पुरातत्वीय शिलालेखों के द्वारा जावा के ब्राह्मण-धर्म पर और ब्राह्मण-कला के विकास पर काफी प्रकाश पड़ता है।

अस्तु, इस मण्डल के स्वल्पोपोद्घात के उपरान्त हम एक तालिका प्रस्तुत करते हैं जो इस स्थापत्य की सञ्चिका बन जाती है। परन्तु इसके पूर्व हमें यह भी संकेत करना आवश्यक है कि पूर्व-काल हिन्दू-मन्दिर-काल था तदनन्तर बौद्ध-प्रसार में एक महा-मन्दिर बोरो बुदर बन गया जो जावा की कीर्ति दिग्दिगन्त-व्यापिनी बन गयी। तीसरा काल ह्रास-काल है। यह मण्डल वास्तव में जावा के पश्चिम, पूर्व एवं मध्य से सम्बन्धित है।

पश्चिम जावा ६२५ ई० हिन्दू			मध्य-जावा (स्वर्णिम-युग) ६२५ से ६२८ ई० इन्डोजावानीज्	पूर्व-जावा ९३८ से १४७८ ई० इन्डोनेशियन		
	हिन्दू	बौद्ध	हिन्दू	हिन्दू-बौद्ध		
	६२५—७५०	७५०—८६०	८६० ९५०	११वीं तथा १२वीं	१२५०—१२९२	१२९४—१४७८
तरुमा-राज्य	डिजेंगप्लेटो	शैलेन्द्र सुमात्रा	'पुनरुद्धार' Restoration	कीतिस्तम्भ आदि	सिंगसरी	सिम्पिंग,
				स्नानागार	किदल	पपोह,
पोथी तथा पश्चिम	भीम,	कलसन,	प्रासु-मन्दिर	बेलाहुण्डा	जगो	जोवियग
भारत के शिला-	अर्जुन,	मेन्डुत,	परम्बानम्	बेन्हन	मंदिर	पनतरम,
लेख	पुन्ता देव,	सारी,				सवेतर
	श्रीकन्दी,	सेवा,				तिगवगई
	बगेलन,	सेवू				डिजेडाग
	पेवलोंगम	पवान,				सुखुह
	तथा परिवेसित	प्लेग्रोसन तथा बोरोबुदर				सुकाना

टि०—जहां तक मलाया तथा यवन-देश की बात है उस पर विशेष प्रस्तावना की आवश्यकता नहीं। यवन-देश की राजधानी चूडानगरी को आजकल सांग-क्यांग के नाम से पुकारते हैं। मलाया तो प्रतिनिकट द्वीपान्तर—अन्तरीप-प्रदेश है। अस्तु, अब हम मध्य एशिया तथा अमेरिका पर भी विहगावलोकन करें।

मध्य एशिया का भारतीय-स्थापत्य—

मध्य एशिया के भारतीय-स्थापत्य मे खोटान विशेष उल्लेख्य है। यहा के स्मारको में स्तूप विहार, आयतन, मन्दिर, प्रासाद, मण्डप, दुर्ग सभी के निदर्शन प्राप्त होते हैं। इन में रावक-स्तूप और विहार विशेष प्रसिद्ध हैं; जिस मे सौ बुद्धो की प्रतिमायें चित्रित हैं। दादलिक के आयतनो मे हिन्दू-मन्दिरो का प्रतिबिम्ब पाया जाता है।

स विश्व-विश्रान्त-चीन-जापान-मध्य अमेरिका-आदि पर भारतीय स्थापत्य निदर्शन —

भारतीय-स्थापत्य के भारतीय निदर्शनो एव प्रसिद्ध स्मारको के साथ-साथ हिमाद्रि के अंचल मे फैले हुए नेपाल तथा तिब्बत के स्थापत्य पर दृष्टि डालते हुए द्वीपान्तर भारत या बृहत्तर भारत के नाना अनुपम स्मारको का गुणगान करते हुए हम मध्य एशिया तक पहुंच गये। परन्तु भारतीय स्थापत्य की गौरव-गाथा यही नही समाप्त होती। भारतेतर अन्य देशो एव महादेशो जैसे चीन और जापान के अतिरिक्त यह कला दूसरे महाद्वीपों विशेषकर मध्य अमेरिका मे भी पहुची। चीन देश मे जो मन्दिर पाये जाते हैं वे भारतीय कला से अत्यधिक अनुप्राणित हैं। यद्यपि ये ये सभी मन्दिर बौद्ध-पूजा-गृह हैं परन्तु उनका निवेश हिन्दू-मन्दिरो के समान है। यहा के पेंकिन नगर का स्वर्ग-मन्दिर अथवा महासर्प (ग्रेट ड्रेगन) विशेष उपश्लोक्य है। जापान के बौद्ध-मन्दिरो मे चीन का प्रभाव स्पष्ट है। मध्य अमेरिका मैक्सिकन टेरीटरी मे जो युक्तान मे मयासुर की वास्तु-कला मिली है उसको वहा के विशेषज्ञ विद्वानो ने भारतीय-कला ही माना है। वहा के ध्वसावशेषो म जावा के मन्दिरो के समान स्मारक प्राप्त हुए हैं। यदि वहा पर और खोज हो तो और बहुत से महत्व-पूर्ण अवशेष मिल सकेंगे ऐसी आशा है।

वास्तु-शिल्प-पदावली

प्रासाद-खण्ड

१ प्रासाद-काण्ड—नागर-शिल्प;

२. विमान-काण्ड—द्राविड-शिल्प;

३. पुरातत्वीय-काण्ड—स्मारक-निदर्शन।

प्रासाद-काण्ड

१—प्रासाद का अर्थ एवं जन्म तथा विकास—उत्पत्ति एवं प्रसृति ;

२—प्रासादाङ्ग ;

३—प्रासाद-जातियां ;

४—प्रासाद-वर्ग

५—प्रासाद-शैलियां ;

६—प्रासाद-भूषा ;

७—प्रासाद-मण्डप ;

८—प्रासाद-जगती ;

९—प्रासाद-प्रतिमा-लिङ्ग ।

प्रासाद का अर्थ —प्रासाद शब्द नैरुक्तिक — प्रकर्षेण सादनम् है, अतः यह शब्द सादन वैदिक चिति (चैत्य) से अनुगम रखता है। इसीलिए यह प्रासाद अर्थात् देव-भवन वैदिक वेदी की आधार-शिला पर अपना उद्भव प्राप्त कर सका। इसी लिए इस की संज्ञा प्रासाद बनी।

वास्तु-शिल्प शास्त्रीय ग्रन्थों के साथ साथ महाभारत, रामायण तथा पुराणों आदि में जो देव भवनों के लिए पद प्रयुक्त हुए हैं, वे भी प्रासाद के जन्म विकास पर भी प्रकाश डालते हैं। निम्न तालिका तथा समरांगण का निम्न प्रवचन इस तथ्य के समर्थक हैं—

देव-गृह तालिका .

देवगृह	देवकुल	कीर्तन
देवागार	देवतागार	हर्म्य
देवतायतन	मन्दिर	विहार
देवालय	भवन	चैत्य
	स्थान	क्षेत्र
	वेश्म	

स॰सू॰प्रवचन-तालिका

'देवधिष्ण्यसुरस्थानं चैत्यमर्चागृहं च तत्
देवतायतनं प्राहुर्विबुधागारमित्यपि"

अब तीसरी तालिका देखिए तो भवन जन्म विकास तथा धर्मोत्थान साक्षात् दिखाई पड़ेगा। तीनों प्रसिद्ध शिल्प ग्रन्थों (मयमत, मानसार, समरांगण) की भवन-तालिका अब उद्धृत की जाती है .

मयमत (१६ १०-१२)	मानसार (१६ १०८-१२०)	समरांगण (१८ ८-९)
१ आलय	आलय	नीड
२ निलय	निलय	शरण
३ वास	समालय	आलय
४ आस्पद	आवास	निलय
५ क्षेत्र	क्षय	लयन
६ पद	धाम	ओक
७ नय	वास	सश्रय

८	क्षय	आगार	प्रतिश्रय
९	उद्वसित	सदन	निधान
			सस्थान
१०	स्थान	वसित	निकेत
११	पद	तल	आवास
१२	आवासक	कोष्ठ	सदन
१३	निकेतन	गृह	सद्म
		स्थान	
१४	धाम	गेह	क्षय
		वेश्म	
		भवन	वसति
१५	सदन	हर्म्य	आगार
१६	सद्म	क्षेत्र	वेश्म
		आयतन	
		आधिष्ण्यक	
१७	गेह	मन्दिर	गेह
			गृह
१८	आगार	प्रासाद	भवन
१९	गृह	विमान	धिष्ण्य
२०	भवन	मन्दिर	मन्दिर
२१	वास्तु		
२२	वास्तुक		
२३	हर्म्य		
२४	सौध		
२५	मन्दिर		
२६	धिष्ण्यक		
२७	विमान		
२८	प्रासाद		

इन तालिकाओं से प्रासाद का नैरुक्तिक अर्थ तथा प्रासाद-स्थापत्य का विकास समझने मे कुछ सहायता मिल सकती है। कला, सभ्यता एवं संस्कृति की सहचरी है। एक युग था जब लोग जैसे पक्षी वृक्षों के नीड़ों मे आश्रय लेते

थे, उसी प्रकार प्राचीन मानव वृक्षों के नीचे और गुफाओं में रहते थे। इसी-लिए नीड और निलय इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। हम ने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (देखिए वास्तु-शास्त्र प्रथम भाग हिन्दू साइन्स आफ आर्कीटेक्चर) में लिखा है कि ये पद यथा 'नीड' 'निलय' 'सौध', 'मन्दिर' विमान' सूचित करते हैं कि भवनों का विकास छोटी सी कुटियों से प्रारम्भ होकर गगन-चुम्बी प्रासादों एवं विमानों में प्रत्यवसित हुआ।

यहा पर यह भी सूच्य है कि प्रासाद के जन्म और विकास (Origin and Development) मे जो आधुनिक विद्वानों ने मत दिये हैं बड़े ही भ्रान्त हैं। कोई हिन्दू प्रासाद के जन्म में स्तूप Theory लेता है कोई छत्र Umbrella Theory लेता है कोई Mound Theory लेता है, परन्तु हम ने इसे *Organic Theory माना है* और *इस सम्बन्ध मे जो प्रामाण्य* है उस को हम ने अपने प्रासाद-खण्ड के अध्ययन में प्रस्तुत किया है वहीं द्रष्टव्य है।

प्रासाद की उत्पत्ति एवं प्रसृति :—

इस स्तम्भ मे उत्पत्ति से *अर्थ प्रासाद स्थापत्य से हैं। प्रश्न यह है कि* प्रासाद स्थापत्य की दो *प्रमुख शैलियां है एक उत्तरापथीय (नागर)*, दूसरी *दक्षिणापथीय (द्राविड)*। द्राविड शिल्प ग्रन्थों मे देव-भवन के लिए विशेषकर विमान शब्द का प्रयोग किया गया है। समरांगण तथा अपराजित पृच्छा जैसे नागर ग्रन्थों मे मन्दिर के लिए 'प्रासाद' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। अब सब से महत्वपूर्ण समीक्षा यह है कि द्राविडी अग्रजा है कि नागरी ? विमान अग्रज है कि प्रासाद ? निम्नलिखित समरांगण प्रवचन विशेष अवतारणीय है जिस से यह स्पष्ट है कि विमान अग्रज है और प्रासाद अनुज है—यह अन्वीक्षा शिल्प-दिशा से समर्थ्य है —

विमानमथ वक्ष्यामः प्रासादं शम्भुवल्लभम्।
स्वर्गपातालमर्त्यानां त्रयाणामपि भूषणम्॥
सर्वेषां गृहवास्तूनां प्रासादानां च सर्वतः।
प्रासादो मूलमूतोऽयं तथाच परिकर्मणाम्॥ स० सू० ५५ १-२
पुरा ब्रह्मासृजत् पञ्च विमानान्यसुरद्विषाम्।
वियद्वरमविचारीणि श्रीमन्ति च महन्ति च॥
तानि वैराजकैलासे पुष्पकं मणिकाभिधम्।
हैमानि मणिचित्राणि पञ्चमं च त्रिविष्टपम्॥

प्रामन धूवहस्तस्य धनाध्यक्षस्य पाशिन ।
सुरेशिने च विश्वेशो विमानानि यथाक्रमम् ॥
वहून्यन्यानि चैव स सूर्यादीनामकल्पयत् ।
विशेषाय यथोक्तेभ्यस्तान्याकारैः प्रतिदैवतम् ॥
प्रासादाश्च तदाकारान् शिलापक्वेष्टकादिभिः ।
नगराणामलंकारहेतवे समकल्पयत् ॥
वैराज चतुरश्र स्याद् वृत्त कैलाससंज्ञितम् ।
चतुरश्रायताकार विमान पुष्पक भवेत् ॥
वृत्तायत च मणिकमष्टाश्रि स्यात त्रिविष्टपम् ।
तद्भेदान् श्रीमतोऽन्यांश्च विविधानसृजत् प्रभु' ॥ ४८ २-८

अथात' सम्प्रवक्ष्यामि प्रासादान् ...विधान् ।
रुचकादीश्चतुष्षष्टि नामतश्लक्षणतः क्रमात् ।
पूर्वं यानि विमानानि पञ्चोक्तान्यम्बकस्ततः ।
तदाकारभृत सर्वे प्रासादा पञ्चविंशतिः ॥ ४९ १-२

प्रासाद-जातियां— इस प्रकार निम्नलिखित पच विमानो से निम्नोद्धृत प्रासाद-जातियां उत्पन्न हुई —

(अ) विमान-पचक :—

	सज्ञा	आकार	देव
१	वैराज	चतुरश्र	ब्रह्मा
२	कैलास	वृत्त	शिव
३	पुष्पक	चतुरश्रायत	कुबेर
४	मणिक	वृत्तायत	वरुण
५	त्रिविष्टप	अष्टाश्रि	विष्णु

(ब) विमानोत्पन्न-प्रासाद-जातियाँ

वैराजभेद-चतुष्षष्टि चतुरश्र प्रासाद :—

१. रुचक	९ नन्द्यावर्त	१७ प्रमदाप्रिय
२. चित्रकूट	१० अवतस	१८. व्यामिश्र
३ सिंह-पञ्जर	११. स्वस्तिक	१९. हस्तिजातीय

४. मद्र　　१२ क्षितिभूषण　　२० कुबेर
५ श्रीकूट　　१३ भूजय　　२१. वसुधाधार
६ उष्णीष　　१४ विज।　　२२. सर्वभद्र
७ शालाख्य　　१५. नन्दी　　२३. विमान
८ गजयूथप　　१६ श्रीतरु　　२४ मुक्तकोण

कैलाश-भेद—दश वृत्त-प्रासाद—

१. वलय　　६ चतुर्मुख
२ दुन्दुभि　　७ माण्डूक्य
३ प्रान्त　　८ कूर्म
४. पद्म　　९ ताली-गृह
५. कान्त　　१० उलूपिक

पुष्पक-प्रभेद-दश-चतुरश्रायत प्रासाद—

१ भव　　५. शिविरागृह　　९. भ्रमर
२ विशाल　　६. मुखशाल　　१० विभु
३. साम्मुख्य　　७. द्विशाल
४. प्रभव　　८ गृहराज

मणिक-प्रभेद दश वृत्तायत प्रासाद —

१. ग्रामोद　　५ भूति　　९ सुप्रभ
२. रैतिक　　६. निषेवक　　१० लोचनोत्सव
३. तुंग　　७. सदानिषेध
४. चारू

त्रिविष्टप-प्रभेद दश अष्टाश्रि प्रासाद —

१ वज्रक　　५ वामन　　९. व्योम
२ नन्दन　　६. लय　　१०. चन्दोदय
३. शकु　　७. महापद्म
४. मेखल　　८. हंस

प्रसादाग—

प्रसादागों को हम निम्न तालिका म प्रमुख अगों एव उपागो तथा निवेशागो स विभाजित कर सकते हैं—

प्रासाद के प्रधान अग—

पुरुषाग प्रतीक शरीराग

पाठ—पाद आदि

जघा—कटि आदि

मण्डावर—वक्षस्थल स्कन्धादि

शिखर—शिर-मस्तक मूर्धादि

निवेशाग—

१ पीठ जगती

—अतराल

—अर्धमण्डप

४—महामण्डप

५—गर्भ-गृह

नि०—प्रासादाग पुरुषाग के समान विभाव्य हैं। हमने विमान को और प्रासाद को विराट्-पुरुष क रूप म विभावित किया है जो हमने अपने अध्ययन म अग्निपुराण, हयशीर्ष पचरात्र, शिल्परत्न आदि क जो उद्धरण दिए हैं उनके अनुसार प्रासादागो की निम्न तालिका देखिए जो पुरुषागों पर आधारित हैं —

१	पादुका	९	पर्व	१७	मूर्धा
२.	पद	१०	गल	१८,	मस्तक
३	चरण	११	ग्रीवा	१९	मुख
४	आङ्घ्रि	१२	कन्धर	२०	वक्त्र
५	जघा	१३	कठ	२१	कूट
६	ऊरु	१४	शिखर	२२	कर्ण
७	कटि	१५	शिरस्	२३	नासिका
८	कुक्षि	१६	शीर्ष	२४	शिखा

यहा पर यह भी सूच्य है कि प्रासाद-स्थापत्य का मौलिक आधार क्या है ? जिस प्रकार आत्मा और परमात्मा, ईश्वर और जीव निराकार एवं साकार *अन्योन्याश्रयी हैं अथवा एक हैं उसी प्रकार ब्रह्म* (विराट् पुरुष) तथा प्रासाद-देवता एक ही है। प्रासाद का आकार इसी दार्शनिक एव आध्यात्मिक उन्मेष से यह प्रोल्लास दिखाई पडता है। नागर प्रासादो के सर्वोच्च शिखर पर कलश एव आमलक ये जो दो प्रतीक हैं वे *ब्रह्म-रन्ध्र तथा निराकार* ब्रह्म के प्रतीक हैं। महाविशाल पीठ से यह प्रासाद आमलक अर्थात् 'बिन्दु' मे प्रत्यवसयित होना है यही रहस्य है।

टि०—प्रासाद-निवेश की प्रक्रिया नाना-विधा है। यह प्रक्रिया मुख्यतया द्विविधा है—द्राविडा तथा नागरी। द्राविड प्रासादो (विमानो) मे सभा, शाला, गोपुर रग-मण्डप, परिवार भी प्रासाद—गर्भ गृह अर्थात् प्रासाद (Proper—Sanctum Sanctorium) के अतिरिक्त विशेष निवेश्य है। विमानों मे ये यथोक्त *अग अनिवार्य हैं, अतएव मयमत मे यही तथ्य* पूर्ण रूप से पुष्ट होता है —

'सभा, शाला, प्रपा, पंङ्क्तिमण्ड, मन्दिर – रमय०'

जहा तक नागर-प्रासादो की विधा है उसमे प्रासाद ही मुख्य सन्निवेश्य है। परन्तु इस परम पावन स्थान मे प्रवेशार्थ, अन्तराल, अर्ध मण्डप एव महामण्डप भी भुवनेश्वर, खजुराहा आदि नागर-प्रासाद-पीठो पर यह निवेश प्रत्यक्ष हैं।

इन दो वास्तु-शैलियो के अतिरिक्त प्रासाद-निवेश बहुत कुछ देवानुरूप विहित होता है। भगवान् शिव के मन्दिर जिस किसी भी उत्तरापथ के *प्रदेश मे जाएं, वहा, जगती तथा प्रासादो के अतिरिक्त एकमात्र अन्तराल,* अर्ध-मण्डप अथवा महामण्डप के अतिरिक्त अन्य कोई निवेशांग नहीं दिखाई पडते। अब मुडिए दक्षिणापथ की ओर, वहा वैष्णव मन्दिरों को देखिए जो मौलिक विमान हैं। भगवान् विष्णु के लिए आगमो मे स्थानक, आसन एव शयन तीन मुद्रा-रूप-कोटिया बताई गयी हैं, अतएव स्थानक पहली भूमि मे, आसन दूसरी भूमि मे तथा शयन तीसरी भूमि मे प्रकल्प्य हैं। *अत भगवान्* विष्णु राजत्व, आधिराज्यत्व एव भोग-विलास-ऐश्वर्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः ऐसे वैष्णव मन्दिरों के लिए रग-मडप, परिवार-देवालय, राज-

प्रासादोपम महाद्वार महागोपुर, महाप्राकार महाशालाएं एवं अन्य नाना सभायें भी आवश्यक हैं। दक्षिण के रामेश्वरम्, चिदम्बरम, मीनाक्षी-सुन्दरेश्वरम् श्री रगम (रंगनाथ) आदि प्रख्यात मन्दिर इसी प्रोल्लास के निदर्शन हैं।

प्रासाद जातियां

टि०—जाति का अर्थ शैली ही है जो देवानुरुप एवं स्थापत्यानुरुप दोनों दृष्टियों से विभावित कर सकते हैं। समरांगण-सूत्रधार ही एक-मात्र वास्तु-शिल्प-ग्रन्थ है, जहां पर निम्न जातियां एवं उनके प्रासाद वर्णित हैं। प्रासाद जाति प्रासाद वर्ग तथा प्रासाद शैलियां एक प्रकार से एक ही शीर्षक में विचारणीय हैं, तथापि इनको हम निम्न तालिकाओं से स्फुट करेंगे—

प्रासाद जातियां

	द्राविड
नागर	भूमिज
लाट-लतिन	वावाट-वैराट

प्रसाद वर्ग

टि०—उपर्युक्त जातियों के अनुरुप प्रासाद-वर्गों की निम्न-तालिकाएं उद्धृत की जाती हैं। यहां पर यह भी सूच्य है वैराज सभी प्रासाद-जातियों में भगवान ब्रह्मा के द्वारा प्रकल्पित यह वैराज-प्रासाद-जाति सर्व-प्रमुख एवं आदि जाति है, अतः उसके निम्न भेद प्रभेद इस प्रथम तालिका में दिए जाते हैं—

वैराज-जाति-प्रभव-प्रासाद—प्रथमतालिका—

१	स्वस्तिक	५	हिरण्यौक	६	कुम्भक
२	गृहच्छन्द	६	सिद्धार्थक	१०	विमान
३	चतुश्शाल	७	द्विशाल	११	वीर
४.	त्रिशाल	८	एकशाल	१२	चतुर्मुख

टि०—ये द्वादश प्रासाद चार चार करके देवानुरुप अर्थात् गणों देवों तथा स्कन्द के लिए विनिवेश्य हैं।

दूसरी तालिका —

१,	स्वस्तिक	५	विजय	६	नन्द्यावर्त
२	श्रीतरु	६	भद्र	१०	विमान
३	क्षितिभूषण	७	श्रीकूट	११	सर्वतोभद्र
४	भूजय	८	उष्णीष	१२	विमुक्तकोण

टि० यह दूसरा तालिका जाति-जन्य भावानुरूप प्रस्तुत की जाती है जनक स्वस्तिक-आदि विमुक्तकोणान्त तथा जन्य निम्नोद्धृत रुचकादि धराधरान्त—

रुचक	अवतंस	व्यामिश्र
सिंह-पंजर	नन्दी	हस्तिजातिक
शाला	चित्रकूट	कुंदर
गजयूथप	प्रमदाप्रिय	धराधर

तीसरी तालिका —

वैराजसम्भव — अष्ट-शिखरोत्तम प्रासाद — ब्रह्मजाति वंशज —

१.	रुचक	५	सर्वतोभद्र
२	वर्धमान	६	मुक्त-कोणक
३	अवतंस	७	मेरु
४	भद्र	८	मन्दर

समरांगण सूत्रधार में जहां तक जात्यनुरूप प्रासाद-वर्गीकरण का प्रश्न था, उस पर हम इन तीनों तालिकाओं से कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम शैल्यनुरूप आगे की तालिकाओं में यह प्रासाद-वर्ग-विजृम्भण प्रस्तुत करते हैं। किसी भी वास्तु शिल्प-ग्रन्थ में इतना पृथुल प्रासाद-वर्ग अप्राप्य है। मान-सार में केवल ६८ विमानों का वर्णन है। मयमत आदि में और उसके आधे भी नहीं हैं। इसी प्रकार तन्त्र समुच्चय, ईशान-शिव गुरुदेव-पद्धति, कामिकागम, सुप्रभेदागम आदि सभी शिल्प-ग्रन्थों में यही कमी है। अपराजित-पृच्छा ही एक-मात्र ग्रन्थ है जो समरांगण सूत्र-धार का समकालीन है और उसमें भी इसी प्रकार का विजृम्भण प्राप्त होता है, परन्तु वहां पर अर्थात् अपराजित-

पृच्छा मे यह वर्गीकरण विशेष पारिभाषिक वैज्ञानिक एव स्थापत्यानुषंगिक नही है। स० सू० ही एक मात्र वास्तु-ग्रन्थ है जो शास्त्र और कला दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। ११वी शताब्दी तक बगाल-विहार-आसाम में भूमिज शैली भी निखर चुकी थी। नागर-शैली और द्राविड-शैली ये तो बहुत पुरानी हैं, जो गुप्त, आन्ध्र, गुप्त, वाकाटक कालो मे विकसित हो चुकी थी। एक महान् शैली का जन्म मध्य-काल की देन है जिसका नाम लाट शैली है और लाट का अर्थ गुजरात है। गुजरात उस समय बडा ही समृद्ध एव व्यावसायिक प्रदेश था। यह प्रदेश द्वीपान्तर भारत मे भी वाणिज्य से बहुत सम्पर्क रखता था। धन की कमी न थी, अतएव इस सरक्षण मे एक बडी अलकृत-शैली का जन्म हो गया है। गुर्जर प्रदेश (मोधारा) का सूर्य-मंदिर देखें, उसके सभा मडप के स्तम्भो की अलकृतियों को देखें शिखरो की सुषमा निहारें तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्थपति ने तक्षक का रूप धारण कर लिया जिसको हम यह वास्तु-कला, तक्षण-कला (Sculptor's Art) के रूप में उन्मिषित कर सकते हैं। उत्तरापथ मे ९वी और १२वी शताब्दी के बीच में जो इन अलकृतियो का जन्म हुआ वही उत्तर-मध्यकाल मे दक्षिण भारत में विशेषकर मैसूर के मन्दिरो मे यही छटा देखने को मिलती है (देखिये . ... तथा हलेबिड)। अस्तु, अब इस उपोद्घात के बाद यह भी यहा पर हम बताना चाहते हैं कि इस समरागण-सूत्रधार में इन शैलियो के क्रमिक विकास के अनुरूप हम तालिकाएं प्रस्तुत करेंगे जो एक-मात्र तालिका (Tables) ही नहीं वरन् विकास एव प्रोल्लास के भी प्रतीक हैं। अतः यह अधिकृत ग्रन्थ लाट-शैली का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है, अत हम पहले लाट शैली को लेंगे।

लाट-प्रासाद—

(अ) प्राक्कालिक-रुचक आदि ६४ प्रासाद-वैशिष्ट्य-पुरस्सर—

क श्रेणी—

२५ ललित अर्थात् लाट—

१. रुचक	२. भद्रक	३ हंस	४ हंसोद्भव
५ प्रतिहंस	६ नन्द	७ नन्द्यावर्त	८. धराधर
९ वर्धमान	१० अद्रिकूट	११ श्रीवत्स	१२ त्रिकूटक

१३	मुक्त कोण	१४	गज	१५	गरुड	१६	मित्र
१७	भव	१८	विभव	१९	पद्म	२०	मानाधर
२१	वज्रक	२२	स्वस्तिक	२३	शकु	२४	मलय
२५	मकरध्वज ।						

६ मिश्रक —

२६	सुभद्र	२७	योन्टि (?)	२८	सर्वतोभद्र
२९	सिंह केसरी	३०	चित्रकूट	३०	धराधर
३२	तिलक	३३	स्वस्तिक	३४,	सर्वांगसुन्दर

३० सान्धार—

३५	केसरी	३६	सर्वतोभद्र	३७	नदन	३८	नदिशालक
३९	नदीश	४०	मदिर	४१	श्रीवृक्ष	४२	अमृतोद्भव
४३	हिमवान्	४४	हिमकूट	४५	कैलास	४६	पृथ्वीजय
४७	इन्द्रनील	४८	महानील	४९	भूधर	५०	रत्नकूटक
५१	वैडूर्य	५२	पद्मराग	५३	वज्रक	५४	मुकुटोत्कट
५५	ऐरावत	५६	राजहस	५७	गरुड	५८,	वृषभ
५९	प्रासाद राज—मेरु	६०	लता	६१.	त्रिपुष्कर	६२.	पचवक्त्र
६३	चतुर्मुख	६४	नवात्मक ।				

टि०—ललित प्रासादो मे प्रथम १८ भेद चतुरश्राकार (चौकोर) मेय हैं, भव तथा विभव चतुरश्रायताकार, पद्म तथा मानाधर ये दोनो गोल (वृत) तथा वज्रक, स्वस्तिक एव शकु ये तीनो अष्टकोण विनिर्मेय हैं ।

(ग) तृतीय श्रेणी —

टि०—यत १०वीं शताब्दी के बाद पूर्त धर्म पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था अत देवानुरूप प्रासादो का निर्माण भी स्थापत्य को प्रभावित कर गया। और यह ठीक भी था जैसा देव, जैसे उसक लाछन, परिवार एवं कार्य इसी प्रकार उसके प्रासाद का छद (Prospect and Aspect of the Building) तदनुकूल होना ही चाहिए। अत यह, लाट प्रासाद की तृतीय श्रेणी निम्न तालिका मे उद्धृत की जाती है, जो आठ देवो के आठ आठ

प्रासाद हैं :—

१—शिव-प्रासाद	विष्णु-प्रासाद	ब्रह्मा के प्रासाद
१ विमान	१ गरुड	१ मेरु
२ सर्वतोभद्र	२ वर्धमान	२ मन्दर
३ गज-पृष्ठन	३ शंखावर्त	३ कैलाश
४ पद्मक	४ पुष्पक	४ हंस
५ वृषभ	५ गृहराज	५ भद्र
६ मुक्तकोण	६ स्वस्तिक	६ उत्तुंग
७ नलिन	७ रुचक	७ मिश्रक
८ द्राविड	८ पुण्ड्रवर्धन	८ मालाधर

सौर-प्रासाद	चण्डिका-प्रासाद	विनायक प्रासाद
गवय	नन्द्यावर्त	गुहाधर
चित्रकूट	वलभ्य	शालाक्ष
किरण	सुपर्ण	वेणुभद्र
सर्वसुन्दर	सिंह	कुञ्जर
श्रीवत्स	विचित्र	हर्ष
पद्मनाभ	योगपीठ	विजय
वैराज	घटानाद	उदकुम्भ
वृत्त	पताकी	मोदक

लक्ष्मी-प्रासाद	सर्वदेव-साधारण-प्रासाद
महापद्म	वृत्त
हर्म्य	वृत्तायत
उज्जयन्त	चैत्य
गंधमादन	त्रिकणीक
शतशृंग	लयन
अनवद्यक	पट्टिश
सुविभ्रान्त	विभव
मनोहारी	तारागण

टि०—क. श्रेणी—छाद्य-प्रासादों, सभा-प्रासादों (दे० आयहोल, बादामी आदि प्रासाद-पीठ) तथा ख श्रेणी गुहा-प्रासादों (दे० एलोरा, अजन्ता आदि) के प्रतिबिम्बक तो हैं ही, साथ ही साथ द्वितीय श्रेणी शिखरोत्तम तथा तृतीय श्रेणी भौमिक विमानों में भी परिलक्ष्य है।

ब प्रागुत्तर-लाट शैली

मेरु आदि षोडश प्रासाद—

क—श्रेणी—

मेरु	नन्दन	वर्धमान
कैलाश	स्वस्तिक	गरुड
सर्वतोभद्र	मुक्तकोण	गज
श्रीवत्स	रुचक	सिंह
विमानच्छन्द	हंस,	पद्मक तथा वलभी

ख श्रेणी— मेरु आदि विंशति-प्रासाद

मेरु	सर्वतोभद्र	रुचक
मन्दर	विमान	वर्धमान
कैलाश	नन्दन	गरुड
त्रिविष्टप	स्वस्तिक	गज
पृथ्वीजय	मुक्तकोण	सिंह
क्षितिभूषण	श्रीवत्स	पद्मक
	हंस	नन्दिवर्धन

ग—श्रेणी—

श्रीधरादि चत्वारिंशत्-प्रासाद—गुह्य जो देवानुरूप वर्ग्य हैं—

१-भगवती दुर्गा के प्रिय प्रासाद—

श्रीधर	हेमकूट
सुभद्र	रिपुकेसरी
पुष्पक	विजयभद्र
श्रीनिवास	सुदर्शन
कुसुमशेखर	

शिव के प्रिय प्रासाद—

सुरसुन्दर	नन्द्यावर्त

पूर्ण	हर्ष-वर्धन
सिद्धार्थ	त्रैलोक्य भूषण

ब्रह्मा के प्रिय-प्रासाद —

पद्म
विशाल
हंसध्वज
पक्षबाहु
कमलोद्भव

विष्णु के प्रिय प्रासाद—

लक्ष्मीधर	महावज्र	रतिदेह
सिद्धकाम	पञ्चामर	नन्दिघोष
अनुकीर्ण		
सुभद्र	सुरानन्द	हर्षण
दुर्धर	त्रिकूट	नवशेखर
दुर्जय		
पुंडरीक	सुनाभ	महेन्द्र
शिखि-शेखर	वराट	सुमुख

घ—श्रेणी नन्दन आदि दश मिश्रक-प्रासाद—

नन्द	बृहच्छाल, सुधाधर	सम्वर
महाघोष	वसुन्धर	शुक-निभ
वृद्धि-राम	मुण्डक	सर्वाङ्ग-सुन्दर

टि०—लाट प्रासाद-वर्गों की ये तालिकायें—जो हमने नाना श्रेणियो मे विभाजित की हैं, वे एक प्रकार से बिलकुल नवीन उद्भावना है। विद्वानो ने स्थापत्य-निदर्शनीय जो मन्दिर पूर्व-मध्यकाल तथा मध्य-काल में बने हैं, उनको नागर शैली मे ही गतार्थ किया है। 'नागर' पद का मर्म वास्तव में लोगो ने ठीक तरह से नही समझा। राज सरक्षण मे विशेषकर राजधानियो तथा महान् नगरो मे, जो प्रासाद निर्मेय एव निर्मित होते थे वे ही नागर-प्रासाद कहे जाते थे। अथच अरण्यो, जलाशयो, जनपदो आदि में जो नाना स्थापत्य-निदर्शन जैसे अजन्ता, ऐलोरा, खजुराहो आदि प्रदेशो मे पाये जाते हैं वे मेरी दृष्टि मे लाट-शैली मे गतार्थ किए जा सकते है, जिसकी हमने ऊपर तीन श्रेणिया प्रदान की हैं और पुराणो तथा अन्य साहित्य-सन्दर्भों मे भी इस की पुष्टि प्राप्त होती है। यह लाट शैली सभी निवेशों का

प्रतिनिधित्व करती है जैसे छाद्य प्रासाद, सभा मण्डप लयन, गुहाघर, गुह राज (Cave temples) शिखरोत्तम तथा भौमिक सभी का प्रतिनिधित्व करता है। अब आइये नागर प्रासादों की ओर।

नागर-प्रासाद—

इस शैली के दो ही वर्ग इस ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं, एक परम्परा गत और दूसरे नवीन उद्भावना के अनुरूप। प्रथम श्रेणी के बीस नागर प्रासाद प्रायः सभी स्रोतों में एक समान हैं—पुराण, आगम तथा अन्य शिल्प ग्रन्थ। अब हम इन नागर प्रासादों को निम्न दो तालिकाओं में वर्गीकृत करते हैं —

पारम्परिका-विंशिका

मेरु	विमानच्छन्द	नन्दन
मन्दर	चतुरश्र	नन्दि वर्धन
कैलाश	अष्टाश्र	हंसक
कुम्भ	षोडशाश्र	वृष
मृगराज	वर्तुल	गरूड
गज	सर्वतोभद्रक	पद्मक
	सिंहास्य	समुद्र

श्रीकूटादि ३६ नागर-प्रासाद—

श्रीकूट षटक	अन्तरिक्ष षटक	सौभाग्य षटक
श्रीकूट	अन्तरिक्ष	सौभाग्य
श्रीमुख	पुष्पाभास	विमगर्क
श्रीधर	विशालक	विभव
वरद्	सकीर्ण	बीभत्स
प्रिय-दर्शन	महानन्द	श्रीतुंग
कुलानन्द	नन्द्यावर्त	मानतुंग

सर्वतोभद्र-षटक	चित्रकूट-षटक	उज्जयन्त षटक
सर्वतोभद्र	चित्रकूट	उज्जयन्त
बाह्योदर	विमान	मेरु
निर्यूहोदर	हर्षण	मन्दर
भद्रकोष	भद्रसकीर्ण	कैलाश

समोदर	भद्रविशालक	कुम्भ
नन्दिभद्र	भद्रविष्कम्भ	गुहराज

मेरी दृष्टि मे ये प्रासाद यद्यपि नागरी शैली मे निर्मेय एव निर्मित हुए हैं, तथापि इन को हम क्षुद्र-प्रासादो Minor Temples मे विभाजित कर सकते हैं, जो जन-पदो, ग्रामो, अरण्यो, आश्रमो, तीर्थों, सरिता-कूलो के लिए विशेष उपयोगी थे।

इस महाविशाल उत्तरापथ की इन दोनो शैलियो—लाट एव नागर शैलियो के प्रासादो के उपरान्त हम पहले दक्षिण की ओर मुडते हैं, पुनः बगाल, बिहार तथा आसाम मे जाएगे।

द्राविड प्रासाद—

टि० द्राविड प्रासादो की सर्वप्रमुख विशेषता विमान अथवा Storeyed Structure है। अत इन प्रासादो को हम भौमिक विमानो म देखते हैं—शास्त्र तथा कला दोनो मे। मानसार, मयमत आदि सभी दक्षिणात्य ग्रन्थो मे यह विमान-वास्तु भूमि पुरस्सर वर्णित किया गया है। उसी पद्धति से समरागण-सूत्रधार मे भी इनको द्वादश भूमियो के अनुरूप द्वादश वर्ग मे विभाजित किया गया है। पुन. विमान-प्रासादो के पीठ भी नागर-प्रासादो के पीठ अर्थात् जगती से कुछ वैलक्षण्य रखते हैं। अतएव हम द्राविड प्रासादो के पीठो की तालिका पहले प्रस्तुत करते हैं पुनः उनके वर्ग। पीठ एव तलच्छन्द दोनो ही जगती के प्राधायक हैं। अत इन दोनो की तालिका उपस्थित की जाती है।

द्राविड-पीठ-पचक	द्राविड—तलच्छन्द-पचक
पाद-बन्ध	पद्म-तलच्छन्द
श्रीबन्ध	महापद्म-तलच्छन्द
वेदी-बन्ध	वर्धमान-च्छन्द
प्रतिक्रम	स्वस्तिक-च्छन्द
खुर-बन्ध	सर्वतोभद्र

द्राविड प्रासाद—

एक-भूमिक	सप्त-भूमिक
द्विभूमिक	अष्ट-भूमिक
त्रि-भूमिक	नव-भूमिक
चतुर्भूमिक	दशभूमिक

पच-भूमिक एकादश-भूमिक
षड्-भूमिक द्वादश-भूमिक

टि० जहा तक इनकी सज्ञाम्रो, विधाम्रो एव म्र-विधाम्रो का प्रश्न है वह स० सू० के म्रध्ययन से सम्बन्ध नही रखता। म्रतः यह विवरण यहा पर प्रस्तोतव्य नही है म्रब हम वावाट (वैराट) तथा भूमिज (म्रर्थात् बगाल, विहार म्रासाम प्रासादो की तालिका उपस्थित करते हैं।

वावाट

क—श्रेणी दिग्भद्रादि १२—	ख—श्रेणी वृक्षजातीय कुमुदादि ७
१ दिग्भद्र	कुमुद
२ श्रीवत्स	कमल
३ वर्धमान	कमलोद्भव
४ नन्द्यावर्त	किरण
५ नन्दि वर्धन	शतश्रृग
	निरवद्य
६ विमान	सर्वांग-सुन्दर
७ पद्म	(ग) श्रेणी म्रष्टशाल-स्वस्तिक-म्रादि—५
८ महापद्म	स्वस्तिक
९ श्रीवर्धमान	वज्रस्वस्तिक
१० महापद्म	हर्म्यतल
११ पचशाल	उदयाचल
१२ पृथिवी-जय	गधमादन

टि०—इन भूमिज प्रासादो की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इनकी शैली नागर शैली से ही प्रभाविता हुई थी। नागर क्रिया मे ही इन की भूषा विहित है। म्रतएव इन प्रासादो की शिखर-वर्तना मे निम्नलिखित रेखाम्रो पर सकेत किया गया है, जिनकी निम्न तालिका मात्र प्रस्तुत की जाती है। साथ ही उपर्युक्त सिद्धान्त के दृढीकरणार्थ स० सू० का प्रवचन भी म्रवतरणीय है—

> उदयस्य विभेदेन रेखा या पचविंशति।
> लतिनागरभौमाना ता कथ्यन्ते यथागमम्॥

नागर-क्रिया-रेखा-पचविंशति

शोभना लोका वसुन्धरा

भद्रा	करवीरा	हसी
सुरूपा	कुमुदा	विशाखा
सुमनोरमा	पद्मिनी	नन्दिनी
शुभा	कनका	जया
शान्ता	विकटा	विजया
कावेरी	देवरम्या	सुमुखा
सरस्वती	रमणी	प्रियानना

———?

इस समरागणीय प्रासाद-वर्ग की तालिकाग्रो के उपरान्त ग्रब हमे यहा यथा-सकेत शैलियो की छानबीन उचित नही वह ग्रध्ययन-खण्ड मे परिशीलनीय है ग्रत ग्रब हम प्रासाद-भूषा पर ग्राते हैं। प्रासाद-भूषा एव प्रासादाग एक प्रकार से ग्रगागिभाव हैं। ग्रत इस मिश्रण-योजना से ग्रब एतद्विषयिणी तालिकाए निम्न प्रमुख ग्रगानुषगिका तालिका प्रस्तुत की जाती है —

१. वास्तु-क्षेत्र Site Plan
२ तल-च्छन्द Internal as well External Arrangement of the Ground Plan
३ ऊर्ध्वच्छन्द Arrangement of Parts in Elevation
४ पीठ *Basement*
५. द्वार-विधा, मान एव भूषा
६ प्रासाद-उदय
७ मण्डोवर (मण्डप+उपरि)
८. शिखर Spire
९ कलश Finial
१०. रेखा Profile
११. प्रासाद-भूषायें Ornamentative motifs
१२. पत्र तथा कण्टक Mouldings

वास्तु-क्षेत्र —

टि० यह विषय हम अपने भवन-विवेक मे ले चुके हैं, वह वही पठनीय हैं।

तलच्छन्द—प्रासाद-प्रमृति के सम्बन्ध मे जिस मौलिक विमान-पचक का ऊपर सकेत है वह आकारानुरूप—चतुरश्र चतुरश्रायत, वृत्त वृत्तायत एव अष्टाश्रि जो प्रतिपादन किया गया है तदनुरूप यह बाह्य-तलच्छन्द है। साथ ही साथ आन्तर तलच्छन्द भी उपश्लोक्य है।

आन्तर तलच्छन्द

गर्भगृह भ्रमणी-अन्धकारिका—Circum-ambulatory passage and walls of the Sanctum Sanotorium

बाह्य तलच्छन्द—

टि० बाह्य तलच्छन्द के नाना अग है जिन की सख्या दो दर्जनों से भी अधिक है परन्तु स्थापत्य की दृष्टि से उन्हें दो प्रधान अगो मे विभाजित किया किया जा सकता है —

१. रचनात्मक २. भावात्मक

इन मे प्रमुख अग हैं—

भद्र	वर्ण	नन्दी	तिलक
मुखभद्र	प्रतिवर्ण	वारिमार्ग	स्कन्ध
प्रतिभद्र	रथ	कोणिका	ग्रीवा
उपभद्र	प्रतिरथ	नन्दिका	गल आदि आदि
	उपरथ		

ऊर्ध्वच्छन्द—

टि० ऊर्ध्वच्छन्द से तात्पर्य है Structural Disposition वह छन्द-षट्क मे विभाजित है– जैसा भवन वैसा रूप। मेरु, खण्ड-मेरु, आदि इन छहो छदो पर हम अपने भवन निवेश मे प्रतिपादन कर चुके हैं वह वहीं द्रष्टव्य है।

पीठ—पीठ के सम्बन्ध मे हम विमान-वास्तु मे विशेष चर्चा करेंगे।

द्वार—

एक-शाख-द्वार

त्रिशाख द्वार

पच-शाख-द्वार

टि०—शाखा का अर्थ (Door Frame) से है। ये ही शाख-द्वार शास्त्र एव कला मे विशेष सगत हैं।

सप्त-शाख-द्वार

नव-शाख-द्वार।

अपराजित-पृच्छा म एक स लगाकर नौ तक शाखाओ का वर्णन है जिनकी सज्ञा ये यहा प्रस्तुत की जाती हैं —

पद्मिनी	नव-शाख	गान्धारी	चतु शाख
मुकुनी	अष्ट-शाख	सुभगा	त्रिशाख
हस्तिनी	सप्त-शाख	सुप्रभा	द्विशाख
नन्दिनी	पच-शाख	स्मरा (?)	एक-शाख
मालिनी	षट्शाख		

टि०—अन्य शिल्प-ग्रन्थो जैसे वास्तु राज-वल्लभ, प्रासाद-मडन आदि मे इन शाखाओं पर बडा प्रयुल विजृम्भण है। द्वार मान पर हम अपने भवन-निवेश मे प्रतिपादन कर चुके हैं, जहाँ तक भूषा का सम्बन्ध है उस पर थोडा सा यहा सकेत आवश्यक है।

द्वार-भूषा—

प्रासाद-स्थापत्य म द्वार-भूषा मध्यकालीन एव उत्तर-मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य की एक नवीन अलकृति-शैली के रूप मे हम इसे विभावित कर सकते हैं। जैन-मदिरो मे तथा लाट-शैली मे निर्मित प्रासादो जैसे आबू तथा मोवारा (गुजरात) आदि मे द्वार-भूषा बडी ही आकर्षक एव अलकृति प्रधान है। द्वार-कपाट पर पच्चीकारी से नाना रूप-प्रतिमायें—ललाट बिम्ब, देवता-प्रतिबिम्ब, नाना लतायें—फलानी आदि सब इन शाखाओ पर चित्रित हैं। अतएव इन चित्रणो के लिये एक-शाखद्वार से नव शाखा द्वार की कल्पना एव रचना-विच्छित्ति या हुई हैं।

प्रासाद उदय तथा शिखर—

प्रासाद का उदय तथा उसकी शिखर-वर्तना रैखिक कला विशेषकर रेखा-गणित की प्रक्रिया से Geometrical Progression and Regression से सम्पाद्य है, अतएव नागर-वास्तु-विद्या की सबसे बडी देन रेखा कर्म Setting of the Curves है।

यहा पर विशेष समीक्षण असम्भव है। हमारे सुपुत्र डा० ललितकुमार शुक्ल ने इस सम्बन्ध मे बडी छानबीन तथा अध्यवसाय एव तन्मयता म

एतद्विषयिणी पदानुरूप Terminological अध्ययन के द्वार (दे० A Study of Hindu Art and Architecture with ref. ref to Terminology) जो प्रबन्ध प्रस्तुत किया था, उसको विदव- निं डा० क्रैमरिश एव प्रो० के० वी० वाडरिंगटन (जिन्होंने इस पी-एच० डी० थीसिस को जाचा था) इन दोनो ने बड़ी प्रशसा की है—वह इस प्रकाशित प्रबंध मे ही विशेष परिशीलनीय है। अस्तु, हम यहा इन प्रासादोदय एव शिखर—वर्तना के निम्न प्रधान अगो एव उपन्यासो की तालिका प्रस्तुत करते हैं —

रेखा		
कला	स्कध	शृग
खण्ड	वलण	अण्डक
चार	घण्ट	उर शृ ग (उरोमञ्जरी)
	शिखर	गजपृष्ठ

टि०—इन रेखाओ क नाना भेद हैं जैसे—

त्रिखण्डा	नवखण्डा	त्रयोदशखण्डा
चतुष्खण्डा	दशखण्डा	चतुर्दशखण्डा
पचखण्डा	एकादशखण्डा	पचदशखण्डा
षट्खण्डा	द्वादशखण्डा	षोडशखण्डा
सप्तखण्डा		सप्तदशखण्डा
अष्टखण्डा		अष्टादशखण्ठा

टि०—इन सभी की अपनी अपनी सज्ञायें है जो अ० पृ० मे पठनीय है। मानवद ने भी इनकी सज्ञानुरूप तालिकायें दी हैं। यत यह अध्ययन स० सू० से सम्बधित है अत उनकी यहाँ अवतारणा विशेष सगत नही। इन रेखाओ की तालिकानुरूप सख्याय २६५ है जो रेखाओ के चारानुरूप (1, $1\frac{1}{4}$, $1\frac{1}{2}$, $1\frac{3}{4}$, २, पुन $4\frac{3}{4}$ तक १६ भेद हो जाते हैं) ही य सब गणनायें गतार्थ हैं।

अध्ययन खण्ड म प्रासाद निवेश की भूमिका म शिखरो की विधा—लता-शृ ग अडक शिखर आदि पर कुछ प्रकाश डाल चुक हैं। पुन स्कन्ध-कोष, वेणुकोष ग्रीवा कलश, मातुलु ग आदि क साथ साथ आमलक आदि पर भी कुछ प्रकाश डाल चुक हैं। अन अब इस स्तम्भ को यहीं पर समाप्त कर देना उचित है क्योंकि मडोवर का अर्थ—माम्पोपरि है तथा मडप-वास्तु का प्रमुख अग वितान एव लुमायें है जो मडप-काड मे विवेच्य होगा। प्रासाद

भूषणों से तात्पर्य प्रासार-प्रतिमा-स्थापत्य है जो हम प्रासाद-प्रतिमा-लिंग-वाद मे थोडा बहुत प्रस्तुत करेंगे।

प्रासाद—एक-मात्र भवन नही, वह दार्शनिक एव आध्यात्मिक दोनों दृष्टियो का साक्षात् मूर्तिमान रूप है। यक्ष-विद्याधर-किन्नर गन्धर्व गण एव अप्सराएँ तथा मुनि-ऋषि-भक्त-गण आदि आदि के साथ शार्दूल, शक्ति मिथुन—ये सब चित्रण पूरे जीवन, पूरे दर्शन, पूरे धर्म एव पूरी प्रकृति एव विकृति दोनो की प्रतीकात्मकता को व्यक्त करते हैं।

प्रासाद मडप—

	मण्डप	द्विविध
१	सवृत	
२	विवृत	

म० मू० मे दो वर्ग हैं —अष्ट विध तथा सप्तविंशति-विध।

अष्ट (८) मडप—

१	भद्र	५	स्वस्तिक
२	नन्दन	६	सर्वतोभद्र
३	महेन्द्र	७	महापद्म
४	वर्धमान	८	गृहराज

सप्तविंशति (२७) मडप—

१	पुष्पक	१०	विजय	१९	मानव
२	पुष्पभद्र	११	वस्तुकीर्ण	२०	मानभद्रक
३	सुव्रत	१२	श्रुतिजंय	२१	सुग्रीव
४	अमृतनन्दन	१३	यज्ञभद्र	२२	हर्ष
५	कौसल्य	१४	विशाल	२३	कर्णिकार
६	बुद्धि-सकीर्ण	१५	सुश्लिष्ट	२४	पदाधिक
७	गजभद्र	१६	शत्रुमर्दन	२५	सिंह
८	जयावह	१७	भागपच	२६	श्यामभद्र
९	श्रीवत्स	१८	दम	२७	सुभद्र।

पर्चाविंशति (२५) मंडप वितान—

१	कोल	९	भ्रमरावली	१८	मदार
२	नयनोत्सव	१०	हंसपक्ष	१९.	कुमुद
३	कोलावित	११	कराल	२०.	मद्य
४	हस्तितालु	१२.	विकट	२१.	विकास
५	अष्टपत्र	१३	शखकुट्टिम	२२	गरुडप्रभ
६	शरावक	१४	शखनाभि	२३.	पुरोहित
७	नागवीथी	१५	सपुष्प	२४	पुरारोह
८	पुष्पक	१६	शुक्ति	२५	विद्युन्मदारक।
		१७	वृत्त		

वितान वास्तु विच्छित्ति लुमायें—सप्तधा लुमा

तुम्बिनी	आध्माता	हेला
लम्बिनी	मनोरमा	
कोला	शान्ता	

टि०—जिस प्रकार से शिखर प्रासाद का मौलिक रूप है उसी प्रकार वितान मण्डप का। यह वितान त्रिविध है जो Ceiling के अनुरूप—

समतल वितान क्षिप्रतल वि० उत्क्षिप्ततल वि०

पुन इनकी विधा चतुर्धा हैं—

पद्मक नाभिच्छन्द समामार्ग मन्दारक

पुन—इनको शैल्यनुरूप हम निम्न चार उपवर्गों म कवलित करते है—

शुद्ध सघाट भिन्न उद्भिन्न

इस प्रकार इन वितानो का टोटल निम्न तालिका से १११३ होता है—

	पद्मक	नाभि	समामार्ग	मन्दारक
शुद्ध	६४	२४	१६	१०
सघाट	३६	४०	३६	१५
भिन्न	२००	१००	४८	४०
उद्भिन्न	२००	१३६	१००	४८

—१११३

टि०—यह मण्डप वास्तु नागर-शैली का है। द्राविडी शैली का मण्डप-वास्तु बडा विलक्षण है। उसमे स्तम्भ-सख्या एव स्तम्भ-चित्रण ही वैशिष्ट्य

है। यह विवरण हम विमान-वास्तु में थोड़ा सा उपस्थित करेंगे। अब आइये प्रासाद-जगती पर।

प्रासाद-जगती —

वैसे तो जगती का अर्थ Base अर्थात् पीठ है। बिना पीठ अथवा आधार के भवन की स्थापना हो ही नहीं सकती है। जिस प्रकार पुरुषाङ्गों में प्रथम अंग चरण अथवा पाद है, उसी प्रकार इस प्रकार इस प्रासाद-पुरुष का कलेवर जगत्याश्रित ही है। परन्तु स० सू० में जगतियों को जगती-प्रासादों के रूप में विभाजित किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि उत्तरापथ में पौरजानपदीय मन्दिर शिवालय विशेषकर एक छोटे आयतन Shrine के अतिरिक्त जो विशेष छटा इन मन्दिरों में दर्शनीय है वह एक मात्र ऊंची ऊंची चौड़ी लम्बी जगती ही है जहां पर जनता एकत्रित होती है-धार्मिक उत्सव, पूजोत्सव (शिवरात्रि आदि) मनाते हैं अतएव स० सू० का प्रवचन यह पठनीय है

त्रिदशागारभूत्यर्थं भूषाहेतो पुरस्य च।
भुक्तये मुक्तये पुंसां सर्वकाल च शान्तये॥
निवासहेतोर्देवानां चतुर्वर्गस्य सिद्धये।
मनस्विनां च कीर्त्यायुर्यशस्सम्प्राप्तये नृणाम्॥
जगतीनाथ ब्रूमो लक्षणं विस्तरादिह॥

ऊपर जो हमने संकेत किया है उसका इस उद्धरण से पोषण हो जाता है। पुन इन जगतियों पर नाना परिवार-देवों की मढ़िया (Smaller shrines) भी चारों ओर विन्यसित की जाती हैं। यह परम्परा पंचायतन-पूजा-परम्परा के अनुरूप है।

पुनः—जगती जैसा हमने पीठिका के रूप में, वास्तु-अवयव है, उसी प्रकार प्रासाद पुरुष है-विराट्-पुरुष है जिसमें तीनों लोक नयित हैं। अतः विराट् पुरुष त्रिलोकी है तो इस दार्शनिक दृष्टि से प्रासाद लिंग है तथा जगती पीठिका है। जिस प्रकार शिवलिंग की मूर्ति के लिए पीठिका अनिवार्य है उसी प्रकार प्रासाद-लिंग के लिए जगती पीठिका अनिवार्य है। स० सू० के निम्न प्रवचन को पढ़िए —

प्रासादं लिंगमित्याहुस्तिजगत्त्वयनाद् दत
तस्मात्तदाधाररूपा जगती पीठिका मता॥

अस्तु, अब हम जगती की दोनो तालिकाओं की अवतारणा करते हैं एक जगती वाला दूसरी जगती-मञ्ज। यत जाली पर भिन्न दिशाओं एव कोणों पर परिवार देवालय स्थान विहित हैं, अत तदनुरूप य शालाए अनिवार्य हैं —

जगती-शाला षटक —

कर्णोदभवा	भद्रजा	मध्यजा
भ्रमोत्था	गभसम्भवा	पार्श्वजा

एकोनचत्वारिंश (३९) जगती—

वसुधा	कुनाला	विश्वरूपा
वसुधारा	महीधरा	आदिकमला
वहन्ती	मन्दारमालिका	त्रैलोक्य-मुन्दरी
श्रीधरा	अनगलेखा	गन्धर्वबाविका
भद्रिका	उत्सवमानिका	विद्याधरकुमारिका
एक भद्रा	नागारामा	सुभद्रा
द्वि भद्रिका	मारभव्या	सिन्धपञ्जरा
त्रि-भद्रिका	मकरध्वजा	गन्धर्वनगरी
भद्रमाला	नन्द्यावर्ती	अमरावती
वैमानी	सूपाना	रत्नप्रभा
अमरावली	पारिजातकमञ्जरी	त्रिदशेन्द्रसभा
स्वस्तिका	चूडामणिप्रभा	देवयन्त्रिका
हरमाला	श्रवणमञ्जरी	

टि० इन ३९ के अतिरिक्त यमना, अम्बुधरा, नेत्रा, दोर्दण्डा, खण्डला तथा सिता भी परिसंख्यात हैं अत इनकी सख्या ४५ हो गयी।

प्रासाद प्रतिमा लिंग—

नागर वास्तु विद्या के अनुरूप शिव मन्दिर ही प्राचीन-काल, पूर्व मध्यकाल तथा मध्य काल मे विशेष प्रथित थे अत इन मन्दिरो मे शिव-लिंग ही प्रासाद-प्रतिमा प्रधाना प्रतिमा स्थाप्या थी। स० सू० के अनुसार प्रासाद प्रतिमा लिंग के निम्न वर्ग प्रकल्पित हैं —

मुख-लिंग—जो भगवान पशुपति का मुख लिंगोपरि चित्र्य है।

द्रव्य लिंग, दे० प्रतिमा-काण्ड—

लिङ्ग भाग ब्राह्म वैष्णव, महेश दे० प्र० का०

लोक-पाल—दे० एन्द्रादि लिंग दे० अन्तिम अध्याय एवं उसका अनुवाद।

विशिष्ट लिंग—पुण्डरीक, विशाल श्रीवत्सादि।

लिंग पीठ— पीठ भाग—रुद्रादि भाग
पीठोत्सेध
पीठ प्रकार

टि०—१ ये सब विवरण अनुवाद-स्तम्भ में द्रष्टव्य हैं।

टि०—यथाप्रतिज्ञात प्रासाद-भूषानुरूप यहाँ पर प्रासाद-प्रतिमाओं अर्थात् Sculpture पर भी समीक्षा करनी है।

प्रासाद-प्रतिमा—से तात्पर्य द्विविध है—गर्भ-प्रतिमा, भूषा प्रतिमा। गर्भ प्रतिमा से तात्पर्य पूज्य प्रतिमा से है जो प्रासाद (Sanctum Sonctorium) में प्रतिष्ठा पुरस्सर प्रतिष्ठापित होती है। यत प्रासाद एक कलाकृति नहीं वह हमारे सम्पूर्ण धर्म एवं दर्शन का प्रतीक है, अतः उसके कलेवर पर निराकार साकार, ब्रह्म तथा जीव स्थावर एवं जंगम जगत सभी चित्र्य हैं तो नीचे से उठाकर अर्थात् पीठ अथवा जगती से प्रारम्भ कर आमलक अर्थात् (निराकार ब्रह्म का प्रतीक) में प्रत्यवसित होते हैं। यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर *मिथुन, अप्सरायें वल्ली-लता वीरुध-पादप-पारिजात-शार्दूल-शक्ति आदि आदि* सभी ये प्रासाद-भूषा-प्रतिमाओं के निदर्शन हैं।



विमान--काण्ड--द्राविड़--शिल्प

१—विमानाङ्ग

२—विमान-निवेश—

प्राकार
गोपुर
मण्डप
परिवार
शालायें

३—विमान-भेद ।

विमानांग—

टि०—पीछे प्रासाद-काण्ड मे द्राविड प्रासादो अर्थात् भौमिक विमानो की विशेषता पर कुछ हम संकेत कर ही चुके हैं। अतः अब यहां पर स्वल्प मे इस प्रासाद-पदावली को पूर्ण करने के लिये हम सर्वप्रथम विमानागो पर प्रकाश डालेंगे। निम्न तालिका देखें —

अधिष्ठान	द्वार	कुम्भलता
पीठ	वेदिका	प्रस्तर
उप-पीठ	भित्ति	उत्तर
पद्य	शाला	नीप्रफलक
गर्भ-गृह	कूट	शिखर
अम्बुमार्ग	पजर	स्तूपिका
स्तम्भ	जालक	विमान-शिखर

अब इनके भेद-प्रभेदो एव विच्छित्तियो की तालिका प्रस्तुत की जाती है —

पीठ उप-पीठ-अधिष्ठान—

ये सब अंगागिभाव से परिकल्प्य हैं अधिष्ठान अर्थात् base किसी भी भवन के लिये अनिवार्य है, परन्तु अधिष्ठान के चिरकाल-सहत्वार्थ उप-पीठ भी अनिवार्य है—मयमत का यह निम्न प्रवचन कितना सार्थक है :—

अधिष्ठानस्य चाधस्तादुपपीठ प्रयोजयत् ।
रक्षार्थमुन्नतार्थंच शोभार्थं तत्प्रचक्ष्यते ॥

अधिष्ठान के पर्याय—

मसूरक	आप्रङ्ग	भुवन
वास्त्वाधार	धरातल	पृथिवी
कुट्टिम	आधार	भूमि
तल	धारिणी	आदि

अधिष्ठान-विच्छित्तिया

काश्यपीय	*शिल्प रत्नीय*
उपान	उपान
जगती	कुम्भ
कुम्भ	जगती
खण्ड	कन्धर
पट्टिका	प्रस्तर

अधिष्ठान-भेद—१४

"अधिष्ठान मय प्राह चतुर्दशविध पृथक्"

१	पादबन्ध	८	श्रीकान्त
२.	उग्रबन्ध	९	श्रेणीबन्ध
३	प्रतिक्रमं	१०	पद्मबन्ध
४	पद्मकेसर	११	वप्रबन्ध
५	पुष्प-पुष्कल	१२	कपोत-बन्ध
६	श्रीबन्ध	१३.	प्रतिबन्ध
७	मञ्च-बन्ध	१४	कलश-बन्ध

टि० १—काश्यप-शिल्प मे १४ के बजाय २२ अधिष्ठान-भेद हैं। मानसार मे ८ वर्गों मे ८ उप-वर्ग और हैं—६४।

टि० २—जहा तक अम्बु-मार्ग, गर्भ आदि का प्रश्न है, वह पदानुक्रम Terminological point of view से विशेष सकीर्त्य नही अत अब हम स्तम्भ पर आते हैं।

स्तम्भ—

स्तम्भ-पर्याय—मयमते		मानसारे	
स्थाणु	चरण	जघा	स्थूण
स्थूण	आङ्घ्रिक	चरण	पाद
पाद	तलिप	स्तली	कम्भ
जघा	कम्भ	स्तम्भ	अर
		अङ्घ्रिक	भारक
		स्थाणु	धारण

स्तम्भ-भेद—

आहृत्यनुरूप	विच्छित्यनुरूप
ब्रह्मकान्त	चित्रकण्ठ
विष्णुकान्त	पद्मकान्त
रुद्रकात	चित्रस्कम्भ
शिवकान्त	पालिकास्तम्भ
स्कन्दकान्त	कुम्भस्तम्भ
चन्द्रकान्त	

द्वार—

द्वारांग—कार्यसिद्धयर्थ तथा शोभार्थ—

भ्रमरक प्रक्षेपणीय	पुलक-भातंव-कुण्डल
अर्गला वलय	श्रीमुख
सन्धिपाल पत्त्र	इन्दु-सकल

टि०—सोपान, घनाद्वार (Thick Door), तोरण आदि सर्ववेद्य हैं—स्थाना भाव विशेष सकीर्तन नही।

भित्ति—

भित्ति आदि पर केवल मानादि विवरण है। यहा पर भित्ति के लिये वेदिका अनिवार्य है। पुन भित्ति मे ही नाना भूषायें स्थापत्यानुरूप परिकल्प हैं—कूट, कोष्ठ, पजर, शालायें, जालक, कुम्भलता आदि आदि।

उत्तर-प्रस्तर—जहा तक उत्तर एव प्रस्तर का प्रश्न है वे विशेष विवेच्य हैं। शिल्पाचार्यों ने हिन्दू-प्रासाद को अगानुरूप निम्न षडङ्ग मे विभाजित किया है, जो प्रधान अ ग है—

अधिष्ठान	गल
पाद	शिखर तथा
प्रस्तर	स्तूपिका

प्रस्तर एव उत्तर एक दूसरे से अनुप्रणित हैं, जो पाद अर्थात् स्तम्भोपरि निर्मेय है।

शिखर एव स्तूपिका—शिखर पर हम कुछ सकेत कर ही चुके है। विमान-वास्तु की विशेषता स्तूपिका है तथा प्रासाद-वास्तु की विशेषता आमलक है। यह सब अध्ययन मे देखें। यह इतना गहन विषय है कि बिना नाना शिल्प-ग्रन्थों के पूर्ण परिशीलन के, इस शिखर-विन्यास पर पूरा प्रकाश नही डाला जा सकता। अस्तु अब हम आते हैं स्वल्प से विमान-निवेश पर।

विमान निवेश—प्रासाद-निवेश से विलक्षण है—इस पर हम पहले ही कुछ सात कर चुके है। अब हम अपनी उद्भावनानुरूप विमान-निवेश को निम्न वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—

विमान	(गर्भ-गृह) Proper
प्राकार	मण्डप

गोपुर मालायें
परिवार स्त म डप प्रा आदि

विमान भेद — विमान प्रासादों को शिल्प ग्रन्थों ने अल्प प्रासाद महाप्रासाद, जाति प्रासाद इन का प्रमुख वर्गों म विभाजित किया है पुन य प्रासाद तलानुरूप विभाजित किय गये हैं—एकतल द्वितल आदि आदि। पुन मानारूप इन्हें छन्द विकल्प आभास में वर्गीकृत किया गया है। अस्तु इस अत्यन्त स्थूल-समीक्षोपरान्त अब हम मानसार के ९६ विमानों की तालिका प्रस्तुत करते हैं जो भारत का स्तम्भ है अर्थात विमान भेद वह यहीं पर उपस्थाप्य हैं —

एक-तल विमान ८	द्वितल-विमान-८	त्रितल विमान-८
वैजयन्तिक	श्रीकर	श्रीकान्त
भोग	विजय	आसन
श्रीविशाल	सिद्ध	सुखालय
स्वस्तिबन्ध	पौष्टिक	केसर
श्रीकर	अन्तिक	कमलाग
हस्तिपृष्ठ	अद्भुत	ब्रह्मकान्त
स्कन्दतार	स्वस्तिक	मेरुकान्त
केसर	पुष्कल	कैलास
चतुस्तल विमान-८	**पंचतल विमान ६**	**षट्तल विमान १२**
विष्णुकान्त	ऐरावत	पद्मकान्त
चतुर्मुख	भूतकान्त	कान्तार
सदाशिव	विश्वकान्त	सुन्दर
रुद्रकान्त	मूर्तिकान्त	उपकान्त
इन्द्रकान्त	यमकान्त	कमलाक्ष
मन्त्रकान्त	गुणकान्त	रत्नकान्त
वेदिकान्त	चन्द्रकान्त	विपुलाक
इन्द्रकान्त	ब्रह्मकान्त	ज्योतिष्कान्त
	महाकान्त	सरोरुह
	कल्याण	विपुलकीर्ति
		स्वस्तिक कान्त
		नन्द्यावर्त
		इषुकान्त

सप्त-तल विमान-८	अष्टतल विमान-८
पुण्डरीक	भू कांत
श्रीकांत	भूपकांत
श्रीभोग	स्वर्गकांत
धारण	महाकांत
पञ्जर	जनकांत
आश्रमागार	तपस्कांत
हर्म्यकांत	सत्यकांत
हिमकांत	देवकांत

नवतल-विमान-७	दशतल-विमान-६
सौरकांत	भूकांत
रौरव	चन्द्रकांत
चण्डित	भवनकांत
भूषण	अन्तरिक्षकांत
विवृत	मेघकांत
सुप्रतिकांत	अब्जकांत
विश्वकांत	

एकादश-तल विमान ६	द्वादशतल-विमान-१०	
शम्भुकांत	पांचाल	केरल
ईशकांत	द्राविड	वेशरकांत
चन्द्रकांत	मध्यकांत	मागधकांत
यमकांत	कालिंगकांत	जनकांत
वज्रकांत	वराट	स्फूर्जक(गुर्जरक)
अर्ककांत		

प्राकर

प्रयोजन—		
	बलि	भोगार्थ
	परिवार	परिवार देवताओं के लिए
	शोभा	यथानाम
	रक्षा	यथानाम

भेद—५	अर्न्तमण्डल	मध्यहारा
	अन्तर्हारा	प्राकार
		महामर्यादा

टि०—स्थापत्यानुरूप इन को भी जाति, छन्द, विकल्प एवं आभास की अपनी अपनी श्रेणियों मे रक्खा गया है।

गोपुर—इनको सप्तदश भूमियो मे भी शिल्प-ग्रन्थो मे वर्णित किया गया है। दाक्षिणात्य मन्दिरो की ही यह एकमात्र विशेषता है। मदुरा के मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम् मन्दिर के गोपुर सर्वातिशायी गोपुर हैं, परन्तु वहा भी १२ से अधिक भूमिया यही दिखाई पडती हैं। गोपुर महाद्वार हैं। चिदम्बरम् के गोपुर को देखे वहा भरत के नाट्य-शास्त्रीय १०८ नृत्य-मुद्राओ का जो चित्रण प्राप्त होता है वह वास्तव मे मानव-कृति नही है, देवी या याक्षिणी कृति है गजब है।

परिवार—विशेष प्रतिपाद्य नही इससे तात्पर्य परिवार-देवताओ के अपने अपने आलय प्रासाद-गर्भ गृह के निकट निर्मेय हैं।

मण्डप—

स्थापत्यानुरूप—मण्डपो की संज्ञायें स्तम्भानुरूप हैं —

शतमण्डप	१०० खम्बे वाले
सहस्रमण्डप	१००० ,, ,,

टि०—मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम्, चिदम्बरम्, रामेश्वरम् आदि दाक्षिणात्य विमान-प्रासाद-पीठो पर यह सुषमा दर्शनीय है।

शास्त्रीयानुरूप—मानसार में—

हिमज	पारियात्र
निषधज	हेमकूट
विन्ध्यज	गन्धमादन
माल्यज	

इनके अतिरिक्त अन्य मण्डप हैं.—

मेरज	पुस्तकालय के लिये
पद्मर	महानस के लिये Temple-kitchen
शिव	साधारण पाठशाला के लिये
पद्म	पुष्प-वेश्म के लिये
भद्र	पानादि के लिये

शिव	पान्थालय के लिये
वेद	सभा के लिये
कुलधारण	कोष्ठागार के लिये
सुखाग	अतिथियों के लिये
दावं	हस्तियों के लिये
कौशिक	घोड़ो के लिये

वि० वा० शा० मे शतस्तम्भ-मण्डप-योजना के प्रसंग में निम्न संज्ञाओं से शत स्तम्भ मण्डपों का उपयोजन है —

१. सूर्यकात शत स्तम्भ-मण्डप
२ चन्द्रकात ,,
३ इन्द्रकात ,,
४ गन्धर्वकात ,,
५ ब्रह्मकात

साथ ही इस के लब्ध-प्रतिष्ठ टीकाकार ने मण्डप प्रयोजन पर निम्न वर्ग उपस्थित किये हैं —

अभिषेक	जप	विहार
याग	वाहन	अध्ययन
आस्थान	प्लवोत्सव	प्रणय-कलह
अलङ्करण	डोला	दमनिकोत्सव
विवाह	मासोत्सव	शयन
वसन्त	सवरोत्सव	पक्षोत्सव
ग्रीष्म	नैमित्तिकोत्सव	नित्योत्सव
कार्तिक	वार्तिक-मण्डप-निर्माण	आखेट

प्रासाद-विमान-पुरातत्वीय स्थापत्य-निर्देशन

१ लयन-गुहाघर गुहराज (Cave Temples)

२ छाद्य-प्रासाद तथा सभा-मण्डप (Pillard Hall-Temples)

३ नागर-प्रासाद (Northern Temples)

४ विमान प्रासाद (Southern Temples)

५. वावाट-भूमिज-आदि-प्रासाद (Regional-Style Temples)

६ बृहद्भारतीय विकास—नेपाल, तिब्बत, लङ्का, बर्मा, आदि

ब द्वीपान्तर—भारतीय प्रोल्लास—श्याम—कम्बोडिया—बाली—जावा आदि।

स मध्य ऐशिया तथा अमेरिका भी !

टि०—हमने अपने Vastusastra Vol I—Hindu Science of Architecture (See An Outline History of Hindu Temple pp 482—575) तथा हिन्दू-प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि वैदिकी, पौराणकी, लोकधार्मिकी तथा राजाश्रया—मे इस प्रसाद स्थापत्य का एक नवीन समीक्षा अर्थात् ऐतिहासिक स्थापत्य एव शास्त्रीय सिद्धात इन दोनो के समन्वयात्मक (Synthetic) दृष्टिकोण से जो वहा इस पर प्रबध प्रस्तुत किया है वह पाठक एव विद्वान् अवश्य परिशीलन करें। अत यहा तो केवल पदावली का ही प्रश्न है अत इन कोटियो मे भारत की इस महान् स्थापत्य विभूति को दर्पणवत् तालिकाओ मे प्रस्तुत करने का प्रयास करना है।

लयन गुहाघर-गुहराज—इन प्रासाद-पदो से तात्पर्य गुहा-मदिरो, गुहा-चैत्यो, गुहा विहारो से है। स० सू० को छोडकर अन्य शिल्प ग्रन्थो मे यह पदावली प्राप्त नहीं है। इनके निदर्शन निम्न तालिका-बद्ध परिशीलनीय हैं।

एक तथ्य और भी सूच्य है। गुहा-निवास अति प्राचीन-काल से ध्यान एव तपस्या के लिये प्रथित रहे हैं। पौराणिक भूगोल मे मेरु देवावास तथा कैलाश शिव निवास है। अत जहा लयन, गुहाघर, गुहराज इन गुहामन्दिरो की पदावली है, वहा मेरु, मदर, कैलास आदि *शिखरोत्तम प्रासादो की सज्ञायें हैं।* अत लयन है *श्रीगणेश तथा पर्वताभिध प्रासाद एव विमान-सज्ञक* प्रासाद अवसान हैं। यह कितना विकास द्योतित हो रहा है। आइये अब तालिकाओ पर।

लयन-गुहाघर-गुहराज-प्रासाद-पीठ-तालिका—

१	लोमसऋषि-गुहा	१३	*अजन्ता*
२	सुदामा	१४	एलौरा
३	विश्वझोपडी	१५	*मामल्लपुरम्*
४	खडगिरि गुफाए	१६	कोन्डीवटे
५	उदयगिरि-पर्वत-कदरायें	१७	पीतलखोरा
६	हाथी गुम्फा	१८	विदिशा
७	भाज	१९	नासिक
८	*नागार्जुन-पर्वत*	२०	कर्ली कन्हारी
९	*सीतामढी*	२१	बीर (देवगढ)
१० कार्ली ११	बीर (देवगढ)	२२	आनन्द पगोडा (वर्मा)
१२	*कोंडर*	२३	पगान मन्दिर (वर्मा)

२४ एलीफेन्टा
२५ साची
२६ सारनाथ
२७. अमरावती-स्तूप-मंदिर
२८. जग्गयपेट-स्तूप-मंदिर
२९ अन्य अनेक अवशेष

निष्कर्ष यह है कि लयनो के निदर्शन—विशेष शास्त्र एव कला के आनुषंगिक हैं। लोमस ऋषि, खण्डगिरि, उदयगिरि, हाथीगुम्फा, भाज, कोण्डन, कर्ला आदि गुहाधर का प्रतिनिधित्व अजन्ता म तथा गुहराज-विलास एलोरा और मामल्लपुर मे।

छाद्य-प्रासाद तथा सभा-मण्डप-प्रासाद—

प्रथम सोपान

गुप्तकालीन वर्ग	चालुक्य वर्ग
नचना	लादाखान
कुठार	दुर्गामन्दिर
भूमारा	हुच्छेमल्लेगुडी
द्वितीय सोपान-गुप्तकालीन	द्वितीय सोपान चालुक्यकालीन
नागर-शैली में	द्राविड़—शैली में
पापानाथ	सगमेश्वर
जम्बूलिंग	विरूपाक्ष
करसिद्धेश्वर	मल्लिकार्जुन
काशीनाथ	गलगनाथ
	सुन्मेश्वर
	जैनमन्दिर

नागर-प्रासाद—

निम्न प्रख्यात प्रासाद-पीठों में विभाज्य हैं :—

१. उड़ीसा—भुवनेश्वर-कोनार्क तथा पुरी
२. बुन्देल-खण्डस्थ खजुराहो
३. राज-स्थान तथा मध्यभारत
४. लाट-देश (गुजरात तथा काठियावाड़)
५. दक्षिण (खानदेश)
६. मथुरा-वृन्दावन

कालिंग-प्रासाद

७००-९०० ई० भुवनेश्वर-वर्ग	९००-११००
परशुरामेश्वर	मुक्तेश्वर
वैताल दुमल	लिंगराज
उत्तरेश्वर	ब्रह्मेश्वर
ईश्वरेश्वर	रामेश्वर
शत्रुघ्नेश्वर	*जगन्नाथ (पुरी)*
भरतेश्वर	
लक्ष्मणेश्वर	

१००-१२५० ई०	
अनन्तवासुदेव	कोनार्क (सूर्य-मन्दिर)
सिद्धेश्वर	मेघेश्वर
	सराइ दुमल
केदारेश्वर	सोमेश्वर
अमरेश्वर	राजरानी

टि० इसी राजरानी मन्दिर की ज्योत्स्ना ने खजुराहो को दीप्ति प्रदान की— दे० मेरा ग्रन्थ Vastusastra Vol I

खजुराहो-मन्दिर-विशेष निदर्शन—

१ चौसठ जोगिनी-मन्दिर	४ मातंगेश्वर महादेव
२ कन्दरिया (कन्दरीय) महादेव	५ हनुमान का मन्दिर
३ लक्ष्मण-मन्दिर	६ जवारि मन्दिर
	७ दूलादेव मन्दिर

राजस्थान एवं मध्यभारत के प्रख्यात प्रासाद-पीठ

प्राचीन

१ सागर जिला मे एरन पर वाराह, नारसिंह मन्दिर प्राचीन निदर्शन हैं।

२. पठारी (एरन से १० मील दूरी पर) भी वराह तथा नृसिंह के मन्दिर हैं।

३. ग्यारसपुर मे चतुष्कम्भ, अष्टखम्भ मन्दिर हैं जो सभामण्डप के समान हैं—

प्राचीन एव मध्यकालीन

४	उदयपुर	१ उदयेश्वर—एकलिंग महादेव
५	जोधपुर	धानमण्डी का महामन्दिर तथा उसी नगर में एक-शिखर भी
	,, ओसिया	ओसिया मे लग-भग १ दर्जन मन्दिर हैं।
	ग्वालियर	साम-बहू (सहस्रबाहु) मन्दिर, तेली का मन्दिर आदि
	आबू पर्वत	जैन-मन्दिरो की श्रेणिया जैसे तारका-मण्डित नभ

गुजरात तथा काठियावाड़ के मन्दिर

सोल की राजाओ को श्रेय है जिन्होने अनहिलवाड पट्टन (अहमदाबाद) मे नाना मन्दिर बनवाये। इसी क्षेत्र के अन्य क्षेत्रीय पीठ हैं:—

सुनक	मोधारा सूर्य-मन्दिर)
कनौदा	सिद्धपुर (रुद्रमल)
देलमल	काठियावाड
कसरा	घुमली
	सेजाकपुर—नवलखा-मन्दिर

सोमनाथ विश्वविश्रुत-मन्दिर-ज्योतिर्लिंग
शत्रुञ्जय तथा गिरनार पर्वत-श्रेणिया जो मन्दिर नगरिया हैं।

दक्षिण—खानदेश

अम्बरनाथ (प्रथित प्रासाद) थाना जिला में
नौ मन्दिर (खानदेशस्थित) हेमदपन्ती शैली।
मथुरा-वृन्दावन

गोविन्द-देवी	गोपीनाथ
राधावल्लभ	युगलकिशोर
	मदनमोहन

विमान प्रासाद—

दाक्षिणात्य प्रासाद स्थापत्य

हि० इसकी राजाश्रयानुरूप निम्न वर्गों में बाट सकते हैं —

१ पल्लव राजवश ६००-९०० ई०
२ चोल राजवश ९००-११५० ई०
३ पाण्ड्य नरेश ११५०-१३५० ई०
४ विजयनगर १३५०-१५६५
५ मदुरा १६००-१८०० (लगभग)

पल्लव-राजवशीय-सरक्षण मे उदित प्रासाद श्रेणिया एव पीठ

१ महेन्द्र-मण्डल (६००-६४०) मडप-निर्माण पार्वत-वास्तु
२ मामल्ल-मडल (६४०-६६०) विमानो एव रथो का निर्माण
३ राजसिंह-मडल (६६० से ८००) *विमान-निर्माण निविष्ट-वास्तु*
४ नन्दिवर्मन-मण्डल (८००-९००) „ „ „

महेन्द्र मण्डलीय प्रासाद-पीठ	मामल्ल-मंडलीय
मदग पट्ट्	मामल्लपुरम्
त्रिचनापल्ली	यहा के सप्तरथ धर्मराज, भीम, अर्जुन
पल्लवरम्	सहदेव, गणेश आदि Seven Pagodas
मोगलार्जुन-पुरम् ।	

राजसिंह मडल

१ मामल्लपुर-पीठ पर ही तीन विमान—उपकूल (Shore) ईश्वर तथा मुकुन्द मदिर ।
२ पनमलाई
३ कञ्जीवरम्—कैलाश-नाथ तथा वैकुण्ठ-पेरू-मल ।

नन्दि-वर्मन-मण्डलीय-छै प्रासाद —

१—२ कजीवरम् मुक्तेश्वर तथा मातङ्गेश्वर
३—४ चिंगलपट मे श्रौरगदम् तथा वदमल्लीश्वर

३ अरकोनम के निकट तिरुत्तनी के विराट्टनेश्वर
४ गुडीमल्लम् के परशुरामेश्वरम्

चोलाराज-वंशीय-सरक्षण मे उदित प्रासाद श्रेणिया एव पीठ :—

क्षुद्र कृतिया

सुन्दरेश्वर — तिरुकट्टलाई
विजयलय — नरत मलाई
मुवरकोइल — कोडुम्बेलूर
(नि—प्रादन)
मुचकुन्देश्वर — कोलट्टर
कदम्बर—कदम्बरमलाई—नरतमलाई
बालसुब्रह्मण्यम् — कन्नौर

विशाल कृतिया

तञ्जौर बृहदीश्वर
गङ्गैकोण्डचोलपुरम् बृहदीश्वर (राजराजेश्वर)

टि० दाक्षिणात्य मन्दिरो का यह मुकुट-मणि-मन्दिर बृहदीश्वर है, जो चालो की दन है। चोलो का यह वास्तु-वैभव भारतीय कला का स्वर्णिम युग था।

पाण्डय राजवशीय सरक्षण मे उदित प्रासाद-श्रेणियां एव पीठ :—

टि० पाण्डयो न दाक्षिणात्य-शिल्प मे एक नया युग प्रस्तुत किया— मन्दिरों के प्राकार तथा गोपुर। साथ ही साथ जीर्णोद्धार के द्वार प्राचीन मन्दिरों को नयी सुषमा से विभूषित किया। कञ्जीवरम् कैलास-नाथ, जम्बुकेश्वर, चिदम्बरम् तिरुवन्नमलाई तथा कुम्भकोणम् इन मन्दिरो मे गोपुरो एव प्राकारो का विन्यास किया गया। एक नया मन्दिर दारासुरम् के नाम से विख्यात है।

विजय-नगर की राज-सत्ता में प्रोल्लसित प्रासाद—

इस काल मे अलकृतियो (Ornamentation) का भूरि प्रकर्ष प्रोल्लसित हो गया। एक नयी चेतना भी प्रादुर्भूत हो गयी। अधिपति-देवता की पत्नी के लिए कल्याण-मण्डपो का प्रारम्भ हो गया। विशेष निदर्शन —

विजयनगर के अभ्यन्तरालीय मन्दिर

विट्ठल (विठोबा-पाडुरग) कृष्ण मन्दिर

हजाराम (Royal Chapel)

पम्पापति

विजयनगरीय शैली में ग्राह्य-मन्दिर—

वेलोर ताडपत्री

कुम्भकोणम विरञ्चिपुरम्

कञ्जीवरम् श्रीरगम्

मदुरा के नायक राजाओं का चरम काल

मदुरा—मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम् श्रीरगम् वैष्णव-तीर्थ

त्रिचनापली के निकट जम्बुकेश्वर

तिरुवरूर चिदम्बरम्

रामेश्वरम् तिन्नेवेल्ली

तिरुवनमलाई श्रीवेल्लीपुर आदि आदि

टि० भारतीय (उत्तर एव दक्षिण) की महती मन्दिर-कला के विहगावलोकन के उपरान्त बृहद् भारतीय, द्वीप-द्वीपान्तरीय भारतीय Greater Indian प्रोल्लास भी आवश्यक था। परतु इस स्तम्भ की पूर्त्यर्थ हम एक-मात्र सकेत ही करना अभीष्ट समझते हैं :—

निम्न मडल तथा प्रमुख निदर्शन देखें :—

काश्मीर-मडल : ..

१ मार्तण्ड मन्दिर

२. शङ्कराचार्य-मन्दिर

३ अनन्त-स्वामी विष्णु मन्दिर

४ अवन्तीश्वर शिव-मन्दिर

सिंहलद्वीप मण्डल—

लकातिलक जेतवन राम

नेपाल मण्डल—स्वयम्भू नाथ स्तूप, बुद्धनाथ, चगु नाथ

बर्मा मण्डल—पागन के मन्दर—मन्दिर-नगर

द्वीपान्तर-मण्डल—

कम्बोडिया—अगकोर वट, बयोन मन्दिर, बत्तयसी वैनतेयश्री

स्याम—महाधातु-मन्दिर

अन्नम (French Indochina) पाडव-मन्दिर,

भीम-मन्दिर (आदि आदि)

टि० स्याम, जावा, बाली, चम्पा आदि द्वीपान्तरीय भारतीय क्षेत्रों मे भारतीय कला का पूर्ण (प्रोल्लास) ही नही, मध्य ऐशिया तथा मध्य अमेरिका (वै० मयकृत मे भी प्रोल्लास प्रत्यक्ष है।

अनुक्रमणी

टि० १—यह अनुक्रमणी दो खण्डों में विभाज्य है—प्रथम खण्ड अध्ययन एवं द्वितीय खण्ड—अनुवाद।

टि० २—जहा तक प्रासादों की नाना संज्ञाओं, वर्गों, जातियो, शैलियों, अध्यायों एवं अवान्तर-भेदो का प्रश्न है, वह सब पाठक जन विषयानुक्रमणी, मूल परिष्कार एवं वास्तु शिल्प-पदावली म परिशीलन करे। अतः इस अनुक्रमणी के बृहदाकार को तिलाञ्जलि देकर स्वल्प में ही प्रस्तुत किया है।

टि० ३—इन पदो की शतशः पृष्ठ पृष्ठ पर पुनरावृत्ति है परन्तु केवल एक ही पृष्ठ को लेकर यह हमने प्रस्तावना की है

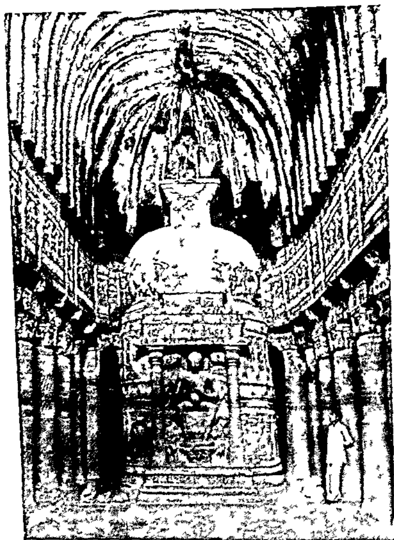
प्रथम-खण्ड

पृ० म० २४६—२७२

शास्त्र एव कला

पुरातत्वीय निदर्शन

ILLUSTRATIONS



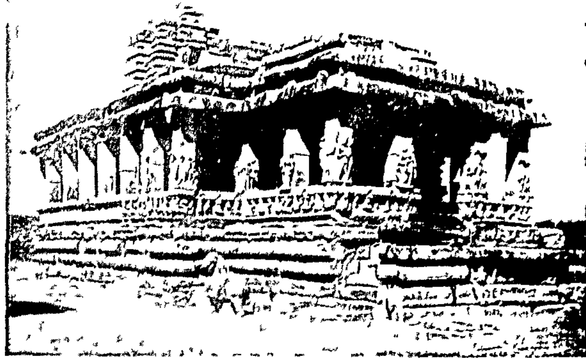
लयन प्रासाद—अजन्ता



गुहाघर— सभामण्डप प्रासाद अजंता



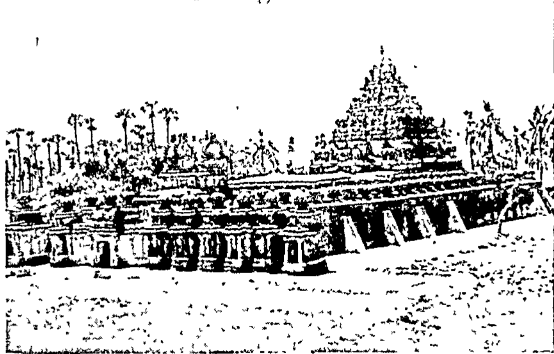
गुहराज—कैलाश एलोरा



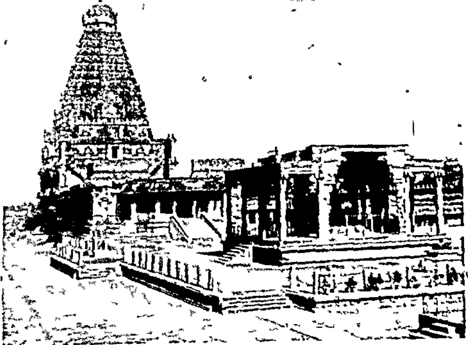
छाद्य प्रासाद—दुर्गा मंदिर आयोहल



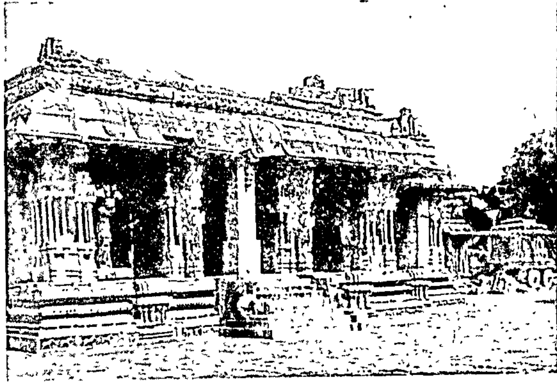
छाद्य विमान—द्रौपदी रथ महाबलि-पुरम्



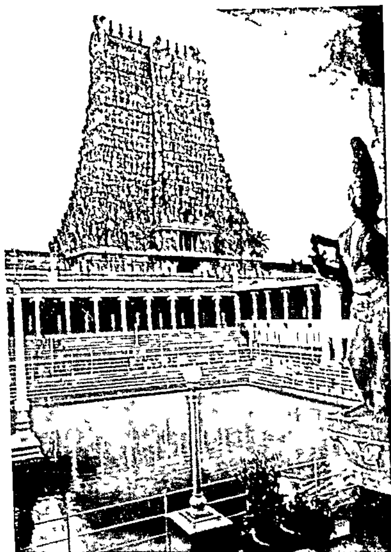
भौमिक-विमान—कैलाशनाथ, काञ्ची-पुरम्



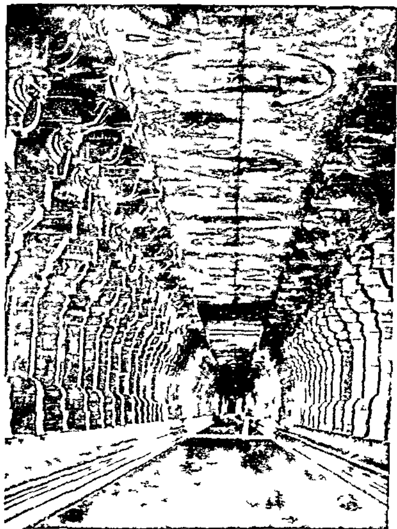
दक्षिण का मुकुट-मणि मो० वि० बृहदीश्वर, तञ्जौर



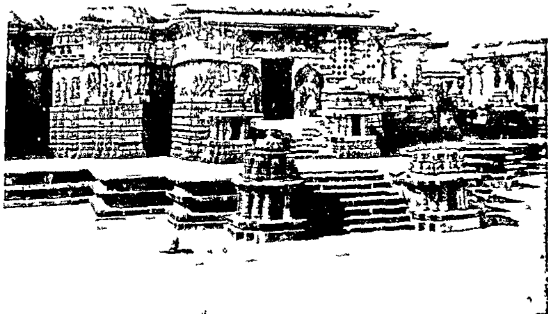
विजयनगरीय नवीन -विन्यास—विट्ठल-मन्दिर-मण्डप



सर्वप्रसिद्ध भौमिक विमान गोपुर — मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम्, मदुरा



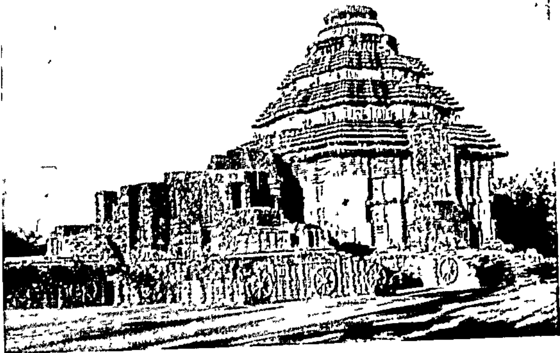
रामेश्वरम का दीर्घान्तराल (Corridor)



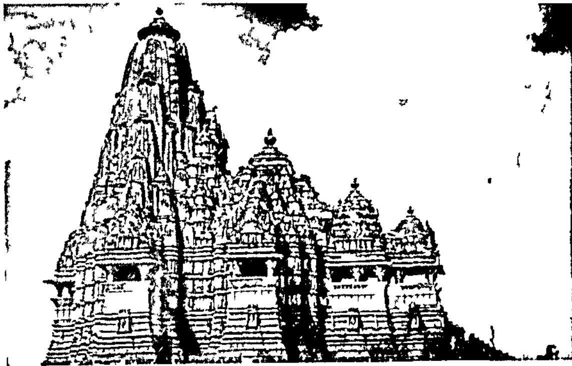
दाक्षिणा य विमान निवश का तक्षण म अवसान—हैसनाश्वर (होयसनश्वर)—मन्दिर हलबिड



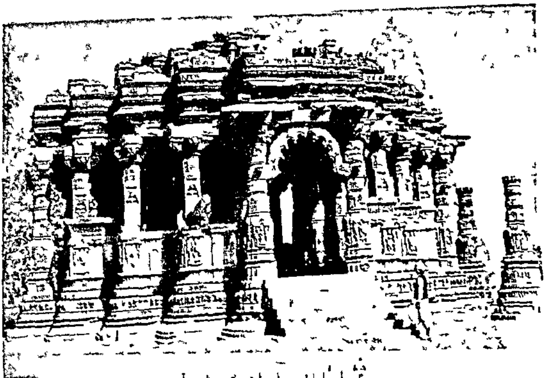
उत्तरापथ की महाविभूति—लिङ्गराज भुवनेश्वर



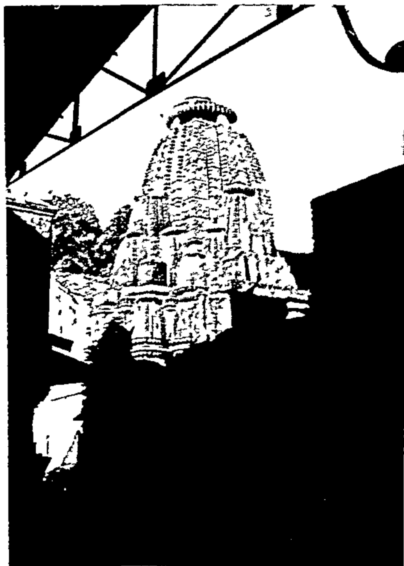
दिव्याकृति—सूर्य-मन्दिर, कोणार्क



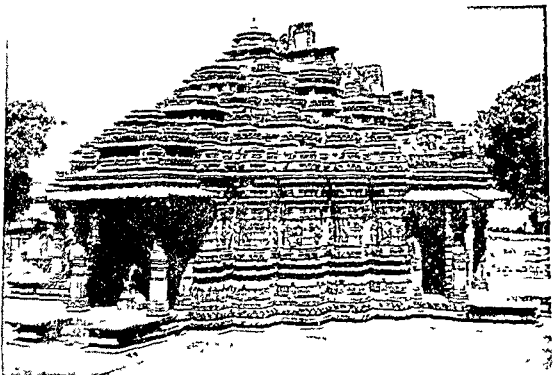
क डरिया (क दरीय) महादेव खजुराहो



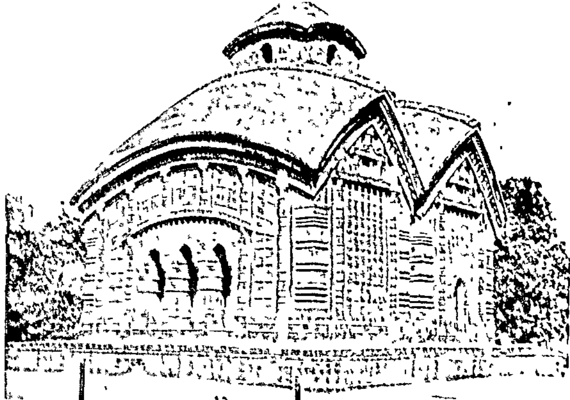
नागर शैली का सर्वोत्तम निदर्शन—सूर्य मंदिर मोधेरा गुजरात



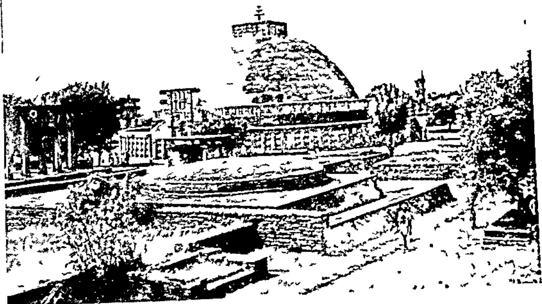
काठियावाड़ की सर्वातिशायी कृति—रुद्रमल सिद्धपुर



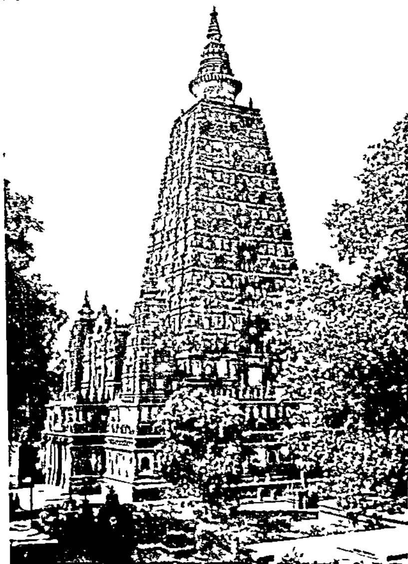
स्थापत्यका सर्व-प्रमुख-निदर्शन—शिवालय अम्बरनाथ



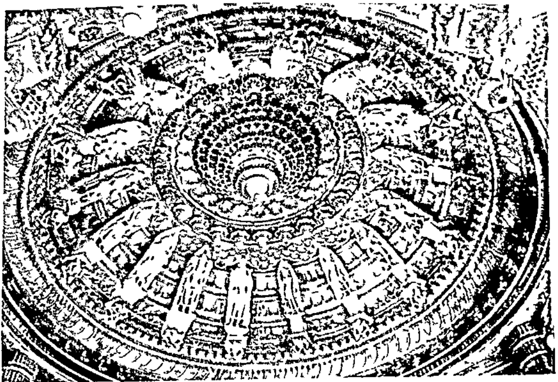
भूमिज शैलीय (बंगाल विहार) का प्रमुख निदर्शन—जोरबंगला, विष्णुपुर



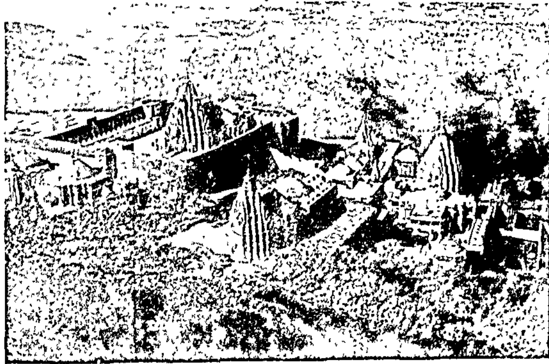
बौद्ध स्तूप प्रामाद साची



बौद्ध—शिखरोत्तम-प्रासाद, बोधगया—गया



जैन-मन्दिर — आबू पर्वत



जैन-मन्दिर-माला—गिरनार पर्वत



जैन मंदिर-नगरी—पालीताना